प्रथम सस्करण : १९६९

मूल्य : रु० ५.००

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
८, फैज़ बाजार, दिल्ली-६

मुद्रक नवीन प्रेस, दिल्ली-६

सज्जा . श्री सुखदेव दुग्गल

'मैं, वे और आप' एक स्वतंत्र उपन्यास भी है, और 'अजय की डायरी' का अगला भाग भी।

'डायरी' मे निगम एक गौण पात्र है, यहाँ वही प्रमुख है। नायक निगम की दृष्टि मे यह उसका 'दस्तावेज' है। उसका दावा है कि यह युग का दस्तावेज भी है। 'गरज यह कि इस दस्तावेज का विषय 'मैं' हूँ, और 'वे', उम्मीद है कि 'आप', जो मेरी जाति के प्राणी और मेरे युग के बाशिन्दे हैं, अपने को इन दोनो परिधियों से बाहर नही पाएँगे।'

सूचनाएँ

बहुत बार यह इरादा किया है कि अपनी जिन्दगी मे देखे और भोगे हुए यथार्थ के बारे मे ब्योरेवार, तरतीब के साथ, कुछ लिखूं, लेकिन कुछ आलस्य और कुछ अपने अव्यवस्थित स्वभाव के कारण वैसा कर नही सका। इस बार इरादे को निश्चय का रूप दिया है, उम्मीद है कि कमोबेश कामयाब हो सकूंगा। कमोबेश—इसलिए ही नही कि लेखन को नियमित रूप में चलाना, खास तौर से मेरे जैसे व्यक्ति के लिए, एक कठिन काम है; बल्कि इसलिए भी, जैसा कि आप और मैं अनुभव मे जानते है, कि यथार्थ का सही अंकन बड़ी नाजुक क्रिया है। बहुत पहले जब मैं मैट्रिक और इटर का विद्यार्थी था, तब मैं कहानियां लिखा करता था। बाद मे, साहित्य से ज्यादा घना परिचय होने के बाद, मुझे न सिर्फ अपनी पुरानी कहानियों से बल्कि कहानी-लेखन से भी अरुचि होने लगी। मैं ईमानदारी से यह महसूस करने लगा कि सचमुच अच्छी कहानियां लिखना मेरी शक्ति से बाहर है। कहाँ पुश्किन, चेखव और मोपासा, और कहाँ श्रीमान् निगम ! जी नही, कहानी लिखना अपने बस की बात नही है। दूसरे, मैंने महसूस किया कि कहानी के जरिए जिन्दगी की कुछ घटनाओं या स्थितियो को

भले ही चित्रित किया जा सके—स्वय जिन्दगी की जटिलताओ पर ठीक से रोशनी डालना सभव नही होता। इसके अलावा ढग से लिखी गयी कहानी की सफलता के लिए यह जरूरी है कि उसका कही साफ प्रारभ हो और कही ठीक-ठीक समाप्ति। दुर्भाग्य से जिन्दगी की जो घटनाएँ मेरी दिलचस्पी जगाती रही है वे अक्सर उस तरह की नही होती, उनका या तो प्रारम्भ रोचक नही होता, या फिर अन्त वेतुका हो जाता है। उदाहरण खोजने कही दूर नही जाना होगा खुद मेरी ही जिन्दगी वैसी विसगत, अर्थहीन घटनाओं से भरी हुई है—जैसे मेरा और सरोज का, मेरा और शोभा का, और श्रीमती मुकर्जी का एफेयर; वगैरह-वगैरह। मुझे लगता है कि अब तक मेरा किसी भी महिला या महाशय से ऐसा सम्पर्क-सम्वन्ध नही हुआ कि जिसे एक परिपूर्ण, सुघड आदि-अन्त वाली कहानी का रूप दिया जा सके।

इधर कुछ मित्रो ने जोर-शोर से मन मे यह वैठाने की कोशिश की है कि मैं कहानियाँ भले ही न गढ सकूं, उपन्यास लिख सकता हूँ। उपन्यास मे इसकी गुजायश रहती है कि आप पाठको को जिन्दगी के वारे मे एक निजी, तीखा, सुसम्वद्ध इम्प्रेशन दे दें। कुछ मित्र इस तरह का सुझाव सजीदगी से देते है और कुछ, जिन्हे मेरी क्षमताओ के बारे मे गभीर दुविधाएँ है, विनोद और मज़ाक के भाव से। मैं उनके सुझाव सुनकर हँस देता हूँ, जिसका मतलव होता है कि उनकी तरह, स्वय मैं भी अपनी शक्तियो के वारे मे आश्वस्त नही हूँ। वात सही भी है। लेकिन मेरी अक्षमता की असलियत कुछ और है। आप माने या न मानें मैं, वहुत हद तक, एक निहायत ईमानदार आदमी हूँ। शास्त्रीय शव्दो मे आप कह सकते है कि मेरी मनोवृत्ति एक वैज्ञानिक की जैसी है। मै चाहता हूँ और कोशिश करता हूँ कि यथार्थ को उसके निजी, निरावरण रूप मे देखूं और उसके वारे मे कुछ कहने का अवसर आने पर उसकी ठीक, कामनाओ व कल्पनाओ के रगो से अछूती, ज्यो-की-त्यो रिपोर्ट दे दूं। मुझे लगता है कि वैज्ञानिको की तुलना मे वे लोग, जो जिन्दगी के वारे मे सोचते और लिखते हैं, वहुत कम सफलता पा सके है। वे अपने अनुसधान की विपयवस्तु यानी जिन्दगी का न ठीक विवरण ही दे सके है, और न सही व्याख्या। सच यह है कि हमारे दार्शनिक और लेखक जीवन की व्याख्या देने को जितने उतावले रहे है उतने उसे ठीक से देखने और वर्णित करने के

लिए नही। उनके द्वारा जिन्दगी का पर्यवेक्षण और व्याख्या दोनों तरह-तरह की मान्यताओं और आस्थाओ, कामनाओ और कल्पनाओ से निर्धारित और विकृत होते रहे हैं।

जिन्दगी की हर तरह की व्याख्या का अर्थ होता है—उसे कुछ धारणाओ या सूत्रो के कटघरे मे बन्द करने की कोशिश करना; लेकिन, व्याख्याताओं की वदकिस्मती से, वरसाती नदी के प्रवाह की तरह, जिन्दगी बार-बार सीमाएँ लाँघती-डुबोती अनदेखे, अनजाने रास्तो मे वहने लगती है। कुछ ही वर्षो की तो वात है कि मेरे कुछ दोस्त, जो मार्क्सवाद से प्रभावित थे, वडे विश्वास और जोश के साथ इस-उस समाज और देश के भविष्य के वारे मे लम्वे-चौड़े पूर्व कथन किया करते थे; देखते देखते उनके वे कथन और भविष्यवाणियाँ झूठी ही नही अर्थहीन सिद्ध हो गई। वैसे ही लेखक और दार्शनिक जिन्दगी और उसकी दिशा व लक्ष्य के वारे मे वड़े-वड़े वक्तव्य देते आये हैं, सच ही मुझे वैसे वक्तव्यों में कोई सार नही दीखता। मैं सिर्फ एक वात जानता हूँ: कि अपनी सारी अर्थहीनता के वावजूद जिन्दगी एक दिलचस्प चीज है—मतलव है जीने वाले स्त्री-पुरुष, स्त्रियाँ और पुरुष; मुझे जीवन-नाटक के किस्म-किस्म के अभिनेताओ और खुद अपने को भी—वल्कि अपने को दूसरों से ज्यादा देखना-जाँचना पसन्द है। यह भी पसन्द है कि उक्त देखने-जाँचने की क्रियाओं का सही, वैज्ञानिक विवरण कही नोट कर लिया जाय।

डायरी—जी हाँ, मेरे लेखन को यदि नाम दिया जा सकता है तो सिर्फ यह। मै कहानी और उपन्यास लिखना ठीक नही समझता, क्योंकि मै मानता हूँ कि उन माध्यमों को लेकर चलते हुए पूरा-पूरा सच नही वोला जा सकता। (और आप यकीन माने कि मैं लेखन के दौरान मे सौ-फीसदी सचाई को प्रकट करना चाहता हूँ। यो भी, किसी लड़की या महिला से सवधित चर्चाओ के वाहर, झूठ वोलना मुझे पसन्द नही है। वैसे मै जिन्दगी की किसी स्थिति या क्रिया को पवित्र नही मानता, फिर भी—आप इसे मेरी कमजोरी कह सकते है—मै लेखन को वहुत हद तक एक पवित्र यानी आध्यात्मिक कृत्य मानता हूँ।)

तो, आपके सामने जो मै प्रस्तुत कर रहा हूँ वह न कहानी है, न

उपन्यास। उसके विभिन्न अवेक्षणों को एकता मे बांधने वाला कोई काल्पनिक सूत्र नहीं है। एक तरह से कहा जा सकता है कि वह डायरी भी नही है, क्योंकि उसमे तिथियो का उल्लेख या क्रम नही मिल सकेगा। माना जाय कि यह लेखन श्रीमान् निगम का दस्तावेज है, इसमे उक्त महाशय के लम्वे और गहरे चिन्तन की नही, सूक्ष्म और ईमानदार पर्यवेक्षण की उपलब्धियाँ दर्ज है। इस पर्यवेक्षण का विपय वहुत-कुछ लेखक का निजी व्यक्तित्व है और उनका जो, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे, उससे सम्पर्कित हुए हैं। गरज़ यह कि इस दस्तावेज का विपय 'मैं' हूँ और 'वे'; उम्मीद यह है कि 'आप', जो मेरी ही जाति के प्राणी और मेरे युग के वाशिन्दे हैं, अपने को इन दोनों परिधियो से वाहर नही पाएँगे।

एक वार पहले भी मैंने एक नोटवुक वनाई थी—मुझे लगता है कि अपने लिखे हुए को यह नाम देना, डायरी और दस्तावेज़ दोनो से ज्यादा उपयुक्त है। दुर्भाग्य से वह नोटवुक दो-तीन वरस साथ रहने के वाद एकाएक सफर मे खो गयी। स्वभावत· मैंने वहुत अफसोस किया। लेकिन क्यो? जो जिन्दगी वीत चुकी उसके वारे मे लिखित का इतना मोह क्यो? सचाई यह है कि उन अवसरो की यादे जव कभी हमारी प्रशसा हुई थी, या किसी दूसरे कारण से हमने गहरे रूप मे तृप्त या सुखी महसूस किया था, सतोष देने वाली होती है। लम्वे अतीत की घटनाओ मे से वैसी कुछ चीजें याद भी रहती हैं। यो मैं मानता हूँ कि दूर हुए अतीत की स्मृतियो मे खोना एक तरह का पलायन है, जो स्वस्थ मनोवृत्ति का परिचायक नही है। वह मौजूदा जिन्दगी के कम अर्थपूर्ण होने का सवूत भी है। उस तरह के पलायन मे कुछ वैसी ही रूमानियत की गध है जैसी कि भविष्य को लेकर वनाई गई हवाई कल्पनाओ मे। ये दोनो ही चीज़े हमारे वर्तमान मे प्रभावशाली ढग से जीने मे वाधा डालती है। फिर भी···

काशी मे एक पडितजी वडे विश्वास और गर्व से कहा करते थे : भारत के निवासी वाल्मीकि के युग मे ही विमान वनाने की कला जानते थे। मैं उन्हे वढावा देते हुए कभी-कभी कहता : हाँ पडितजी, उन दिनो हम लोग वाण-विद्या मे भी कैसे माहिर थे, भरतजी ने हनुमान से कहा कि मैं तुम्हें अपने तीर पर विठाकर समुद्र तट पर पहुँचा सकता हूँ। 'ह : ह : हा।'

पंडितजी हँसते और मेरे होनहार होने की भविष्यवाणी करते। वह और वैसे प्रसंग, अपनी वह व्यंग्यपूर्ण टिप्पणी और पंडितजी की भविष्यवाणी, ये सब मुझे अक्सर याद आ जाते हैं।

सरोज भी कभी-कभी प्रशसा करती थी : 'आज आपकी स्पीच बहुत अच्छी रही', और, रेल के एक सफर में : 'यू आर सो क्लेवर—एण्ड सो नाटी, स्टिल आइ लाइक यू'[१]। आप सोच रहे होंगे कि इस तरह की यादों को पाले रखना विवेक और समझदारी की वात नही है। मैं आपसे सहमत हूँ। व्यक्ति के लिए अपने विगत की सुखद यादों को पकड़े रहना वैसे ही असंगत है जैसा कि किसी राष्ट्र या जाति का अपने अतीत स्वर्णयुगों की दुहाई देना। मतलव यह कि खोई हुई नोटवुक के लिए अफसोस करना मेरे लिए जरूरी नही है। फिर भी अगर इस नोटवुक या दस्तावेज मे कही-कही पुरानी जिन्दगी की कुछ वातों का जिक्र आ जाए, तो उसे आप मेरे वर्तमान के उलझे होने का ही सबूत समझें···या फिर उस याददाश्त की दुर्बलता जो जवरदस्ती हमारी मौजूदा जिन्दगी को छेके रहती है।

× × ×

१. तुम बड़े शरारती और चंट हो, फिर भी मुझे पसंद हो!

आज श्रीमती मुकर्जी ने निर्विकार ढग से कहा, 'निगम, तुम भरोसा करने लायक नही हो।' कहकर वे, हमेशा की तरह, मुस्कराई। मै प्रभावित हुआ—मुसकराहट से नही, उनके वक्तव्य से। यह मानना ही होगा कि श्रीमती मुकर्जी बुद्धि-सम्पन्न और समझदार हैं; चतुर भी। मैंने उनकी राय से मन-ही-मन इत्तिफाक किया, बुरा मानने का तो प्रश्न ही नही था।

भरोसे की बात' 'सच पूछिए तो मै खुद अपने को उस लायक नही समझता। वैसे विश्वास और भरोसे लायक वही चीज हो सकती है, जो सच्चे अर्थ मे एक 'चीज' है, स्थिर और अपरिवर्तनीय, शुरू से अन्त तक एकरस, ज्यो-की-त्यों रहने वाली। मेरा, यानी श्रीमान निगम का, बडे-से-वडा दोस्त या दुश्मन यह इलजाम लगाने की जुर्रत नही कर सकता कि मैं एक उस तरह की 'चीज' हूँ।

मैं अपने दोस्तो से अक्सर कहता हूँ कि मै, सही मानी मे, अज्ञेय हूँ, अज्ञेय और अवर्ण्य। अपने बारे मे वैसा वक्तव्य मैं किसी अहकार से नही देता। यह नही कि मैं खुद, अपने व्यक्तित्व की निस्वत में, अपने को उन दोनो दोस्तो से ज्यादा सौभाग्यशाली स्थिति मे पाता हूँ; मैं खुद अपने लिए भी उतना ही अज्ञेय,

अपरिभाष्य हूँ। यह ठीक है कि मैं अपने को भीतर से ज्यादा साफ देख सकता हूँ, पर यह एक सन्दिग्ध सुविधा है; क्योंकि दूसरे लोग, जैसा कि अक्सर होता है, हमारे बाह्य को ज्यादा स्पष्टता से देख पाते हैं। प्रश्न सिर्फ देखने का नहीं, समझने का है। किसी चीज को जानने या समझने का अर्थ है, उसके बारे मे कुछ सामान्य वक्तव्य दे सकना, ऐसे वक्तव्य जो उसकी प्रकृति या प्रवृत्तियो को प्रकट करें। मेरा दावा है कि मेरे बारे में उस तरह का वक्तव्य कोई नही दे सकता, खुद मैं भी नही। जी हाँ, मेरे यानी मेरे व्यक्तित्व के सम्बन्ध में सबसे दिलचस्प बात यही है; उसकी प्रवृत्तियों की कोई समझ में आने योग्य, परिभाषणीय, दिशा नही है।

कहना चाहिए कि इस मामले मे मैं अपने युग की योग्य सन्तान हूँ, यानी कि आज के मनुष्य का प्रतिनिधि, उसकी चेतना को समूचेपन में ढोने वाला। अपने सम्बन्ध मे यह मेरा एकदम निष्पक्ष, वस्तुगत वक्तव्य है, उसे आप मेरा दावा भी कह सकते है। मैं मानता हूँ कि हर समझदार व्यक्ति को अपने युग की वफादार सन्तान, उसका प्रतिनिधि, होना चाहिए। यह नही कि मैं अपने युग को और उसे प्रतिफलित करने वाली चेतना को कोई खास महत्व देता हूँ—सच पूछिए तो मैं मूल्यांकन की सारी प्रवृत्ति को ही गलत समझता हूँ। गलत यानी अवैज्ञानिक। फिर भी मैं कबूल करूँ कि यह मेरी एक कमजोरी है—उदात्त चित्त की आखिरी कमजोरी, जैसा कि एक पुराने कवि ने कहा है—कि मैं अपनी चेतना को युग की प्रतिनिधि के रूप में देखना-दिखलाना चाहता हूँ।

मैं इस दावे को लेकर बहुत सन्तुष्ट महसूस करता हूँ, ऐसी बात नही है। कारण स्पष्ट है : मैं अपने युग से खास खुश नही हूँ। खास इसलिए कि एकदम नाखुश होने से कोई फायदा नही। जो जैसा है वैसा मुझे या आपको उपकृत करने के लिए नही है, इसलिए उस पर गर्व करना या उसे बदनाम करना, दोनों ही अवैज्ञानिक क्रियाएँ है। जैसा कि मेरी एक परिचिता कहती है : चीजो के स्वभाव से झगडना मूर्खता है। मेरे एक दार्शनिक मित्र का कहना है कि स्पिनोजा की फिलासफी ठीक यही है। यदि वैसा है तो मैं कहूँगा—स्पिनोजा बड़ा आधुनिक था, यद्यपि यह समझ मे आने वाली बात नही है कि अब से पहले, मेरे अपने युग का जीव बने बिना, कोई कैसे

आधुनिक हो सकता था। जो हो, मै आपसे सादर निवेदन करूँगा कि आप मेरी यह समूची नोटवुक, यानी स्वीकारोक्ति, पढकर मुझे वुरा-भला कहने की तकलीफ—या धृष्टता—न करे।

मेरे कुछ मित्र—जैसे अजय और मदन—कभी-कभी मेरे आधुनिकता के दावे पर हँसते हैं। यह हँसना, आप यकीन माने, उनकी प्रच्छन्न हीनता-ग्रन्थि का द्योतक है। उन्हे यह डर है कि कही मेरी आधुनिकता मेरे महत्त्व का सवूत न हो। कुछ लोगो पर आँकने और तौलने की प्रवृत्ति इतनी हावी रहती है कि वे किसी स्थिति को एक तथ्य के रूप मे, निर्विकार आँखो से, देख ही नही सकते। तथ्य या वस्तुस्थिति को उसके खालिस, निजी रूप मे वही देख सकता है, जो भले-वुरे के विकल्पो से मुक्त है—जो, सही मानी मे, नि सग या तटस्थ है। इस तरह की निस्संगता, जिसकी पुराने शास्त्रो में शिक्षा दी जाती थी, मेरे युग के आते-आते मनुष्य की—यानी आधुनिक व्यक्ति की—सहज प्रकृति वन गई है। एक आधुनिक व्यक्ति, मूल्यो के वारे मे, पूरी तरह निरपेक्ष या असम्पृक्त होता है।

उस दिन मैंने अजय से कहा : तुम असम्पृक्त वनना चाहते हो और साथ ही मेरी, यानी मेरे युग की, तटस्थ, वैज्ञानिक मनोवृत्ति को शक की नजर से देखते हो—यह कॉन्ट्रेडिक्शन (विरोध) है। मैं तुमसे सहमत हूँ कि असम्पृक्ति वडी चीज है—मै खामखाह गीता का विरोध क्यो करूँगा ? तुम चाहे कुछ भी समझो, मैं मूर्तिभजक (परम्परा का शत्रु) नही हूँ; न मै क्रान्तिवादी हूँ। क्रान्ति, रिवोल्यूशन, विद्रोह ये सव पुरानी वाते है; आधुनिक व्यक्ति न विद्रोही होता है न क्रान्तिकारी। वह केवल एक तटस्थ दर्शक होता है, यानी वैज्ञानिक द्रष्टा। वह दुनिया को स्थिर, निरपेक्ष दृष्टि से देखना भर चाहता है, उसे वदलना नही। हॉ, मुझे मार्क्सवाद और समाजवाद से, अव, कतई सहानुभूति नही रह गई है। यह वात मैं आप लोगो के ही नही, अस्थाना के सामने भी वेधड़क कह सकता हूँ—यद्यपि अपने सौभाग्य और दोस्तों के दुर्भाग्य से, अस्थाना अव दिल्ली पहुँच गया है। सच यह है कि आज के युग मे, खासकर मेरे देश मे, कोई दिल से मार्क्स या लेनिन का अनुयायी नही रह गया है; अस्थाना अव वह अस्थाना कहाँ है ? और जो अनुयायी होने का दावा करते है वे गुप्त या प्रकट रूप मे राज-

नैतिक शक्ति के स्वाहा हैं, सो भी अपने लिए, मजदूरों-वजदूरों के लिए नहीं। यह उचित भी है, यानी मनुष्य और जिन्दगी के यथार्थ के अनुकूल···

अजय मे एक खूबी है, मेरी वातो को वह माने भले ही नही, पर पूरे ध्यान से सुनता है। इससे मुझे सन्तोप होता है। उसकी खामोशी से प्रोत्साहन पाकर मैं अपने वक्तव्य को कुछ और आगे, और अपनी समझ मे ज्यादा गहराई के स्तर पर, ले जाते हुए कहता हूँ : दरअसल मनुष्य की ऐतिहासिक प्रवृत्ति ही वैज्ञानिक तटस्थता यानी वढती हुई वस्तुनिप्ठता की ओर है। वैज्ञानिक वस्तुनिप्ठता भावुकता का प्रतिलोम है। भावुकता यानी वस्तुओं और स्थितियो पर अपनी भावनाएँ और मूल्य थोपने की प्रवृत्ति। जी हाँ, मेरा विलकुल यही मतलव है; आप जिस अनुपात मे आधुनिक या इस युग के वनेंगे, उसी अनुपात मे मूल्यों व मूल्यांकन से तटस्थ होते चलेंगे। देखता हूँ डा० मदन मेरी वाते सुनते हुए मुस्करा रहे हैं। इस मुसकराहट से मैं कुछ अव्यवस्थित महसूस करता हूँ। मैं थोड़ी देर को खामोश हो जाता हूँ और चुपचाप एक नया सिगरेट निकालकर सुलगाते हुए मुंह और नथुनो से धुआँ फेकता हूँ।

डॉ० मदन—डेढ-दो साल पहले तक मुझे इस शख्स से सख्त खीझ हुआ करती थी। कारण वही, यानी यह सन्देह कि उसकी वातचीत और वर्ताव मे सचाई का अभाव है। खास तौर से दोस्तो के वीच वैसा व्यवहार मुझे एकदम पसन्द नही है। उन दिनो मुझे इस वात का अचरज भी था कि कैसे वह अजय के इतना करीव हो सका है। लेकिन धीरे-धीरे उसके प्रति मेरा रुख वदल गया—अव हम एक-दूसरे को ज्यादा ठीक से समझते हैं···

इधर मदन ज्यादा खुश दिखाई देता है, इसका एक कारण ग्रेड की तरक्की भी है। पी० वाइसचान्सलर हुए और मदन विभाग का अध्यक्ष। मजे की वात यह हुई कि सीनियर होते हुए भी मिस्टर श्रीकृष्ण सिंह अध्यक्ष न वन सके। इसका मुख्य कारण था—नियुक्ति के सिलसिले मे आये हुए एक विशेपज्ञ का डॉ० मदन के शोधकार्य से विशेप प्रभावित होना। दरअसल यह विशेषज्ञ डॉ० मदन की थीसिस के परीक्षको मे थे।·· यह मानना ही पड़ेगा कि मदन मे शोधकार्य की योग्यता और रुचि है। लेकिन यह कम लोग जानते हैं कि उसकी मनोवृत्ति का एक दूसरा पहलू भी है—मदन को

ज़िन्दगी से भी उतना लगाव है जितना कि शोध से। जी हाँ, मदन का शोध-क्रम उसकी ज़िन्दगी के रसपूर्ण वहाव मे एकदम ही हस्तक्षेप नहीं करता। जिन्दगी, यानी गृहस्थ जीवन। यह मदन ने ठीक से उस दिन कवूल किया जिस दिन मैंने उसकी खरीदी हुई पुस्तको के थैले मे से 'रति रहस्य' का सुन्दर सस्करण वरामद किया। इससे पहले, अजय की भाँति, मुझे भी यह मुगालता था कि मदन एकमात्र शोध करने का यंत्र है।

उस दिन मैं मदन को घसीटकर साथ पार्क मे ले गया था। उसने वताया कि उसकी अभी-अभी अजय से भेंट हुई है। 'रति रहस्य' पर उसकी नज़र भी पडी थी। पता नही इस पुस्तक मे ऐसा क्या जादू है···'पुस्तक देखकर अजय ने क्या कहा ?' 'कुछ नही।' फिर कुछ रुककर कहा—'मैंने अजय को वतलाया कि इधर मैं मध्ययुग की सस्कृति पर कुछ काम कर रहा हूँ। उसी सिलसिले मे इस पुस्तक की जरूरत पडी। कालेज लाइब्रेरी मे मिली नही,' इत्यादि। 'हूँ, लेकिन दोस्त, 'रति रहस्य' जैसी मनोरजक पुस्तक सिर्फ रिसर्च के लिए ही नही होती; मेरा मतलव है उसका कुछ ज्यादा व्यावहारिक उपयोग होना चाहिए। लेकिन अजय को तुमने ठीक ही वतलाया—इससे ज्यादा वताने लायक आदमी वह है नही।' 'मैंने अजय को एक वात और वतलाई', मदन ने असमंजस के भाव से जोडा, 'यह कि रति-रहस्य के अनुसार सवसे वढिया नायिका धार्मिक मनोवृत्ति वाली होती है।' 'हूँ, अजय ने इसे एप्रीशिएट किया (सराहा) होगा।' 'नही, क्यों, अजय तो विश्वासी जीव नही है?' 'इससे क्या होना हे, एट हार्ट ही इज़ ए विलीवर; [1] उसका सन्देहवाद वस स्किन् डीप (मनही) हे। दरअसल, उसमें और तुममे उतना भेद नही हे, जितना कि वह प्रदर्शित करता है।' 'एक और वात,' मैंने मदन की कुछ कहने की तैयारी मे हस्तक्षेप करते हुए कहा, 'क्या तुम सोचते हो कि अपनी मनोवृतियों मे वह उतना अशरीरी है जितना कि उसकी वातचीत और विचारो से ज़ाहिर होता है?' 'क्या मतलव?' मदन ने ज़ाहिर असमजस से कहा। 'मेरा मन नव साफ हे। हम सव जानते हैं कि पुरुष की स्वाभाविक रुचि स्त्री के भौतिक व्यक्तित्व में होती है। वात्स्यायन का 'कामसूत्र' और यह 'रतिरहस्य' इसके गवाह हैं। फिर यह कैसे मान लिया

१. अन्दर से वह विश्वासी ही है।

जाए···आखिरकार वह आपसे और हमसे उतना भिन्न नही है न !'

मदन जैसे धर्मसंकट मे पड़ गया था। कुछ देर वाद मानो अनिच्छा से बोला—'पता नहीं क्यों, अजय अपनी पत्नी से सन्तुष्ट नही है।' 'अपनी खूबसूरत पत्नी से,' मैने इजाफा किया। फिर कहा, 'अजय एक लाइलाज रोमांटिक व्यक्ति है। मेरा मतलब समझ रहे हो न ? रोमाटिक व्यक्ति मै उसे कहता हूँ, जो प्रत्यक्ष यथार्थ मे दिलचस्पी न लेकर कल्पित छाया के पीछे दौड़ता है।'

मैं जान-बूझकर अजय के बारे में दो-ढंगी वात कर रहा था, यह देखने के लिए कि मदन की प्रतिक्रिया क्या होती है। फिलहाल मेरी दिलचस्पी का केन्द्र स्वयं वही था, अजय नही। दूसरे, मैं यह उम्मीद नही करता था कि मदन अजय के बारे में, कोई ऐसी चीज वतला मकेगा जो मुझे मालूम नही थी।

मदन ने मौन रहकर मेरी वात को समझने या न समझने का अभिनय किया। मैंने अपने पहले वक्तव्य का समर्थन पाने की गरज से कहा : 'तुमने संस्कृत काव्य पढा है, और फारसी साहित्य भी देखा है, इन साहित्यो के कवि स्त्री का वर्णन किस तरह करते है ?' 'सस्कृत के कवि स्त्री के अग-प्रत्यग का वर्णन करते है और फारसी के शायर भी···', 'वही', मैने बीच में वात काटते हुए कहा, 'हमारे क्लासिकल कवि स्त्री-पुरुप के आकर्पण की हक़ीकत जानते थे। स्त्री का आकर्षण मुख्यत उसके रूप-रग और शरीर का आकर्पण होता है। क्लासिकल कवियो और काम-वैज्ञानिकों को इसमें कोई मुगालता न था।'

मदन ने सहमति प्रकट की थी, पर थोड़े सकोच के साथ और थोडे ही शब्दो मे। बाद में मैंने प्रकट किया कि मै 'रतिरहस्य' के सास्कृतिक पहलू पर उससे कुछ अधिक जानकारी प्राप्त करना चाहूँगा। 'मुझे तन्त्र में भी विशेप दिलचस्पी है—तुम जरूर ही तन्त्रो का अध्ययन भी कर रहे होगे।' 'थोडा-बहुत,' मदन ने उत्तर दिया और फिर उसने मुझे निमन्त्रण दिया कि निकट भविष्य मे उसके घर पर पदार्पण करूँ।

मदन के घर पर, अपनी उम्मीद के खिलाफ मुझे उसकी पत्नी विभा से परिचित होने का मौका मिला। गोरा-चिट्टा रंग और कुछ नाटा कद;

मदन की तुलना में वह एक सुन्दर गुड़िया-सी जान पड़ती है। उसकी समान, आकर्षक दन्त-पक्ति अक्सर खिल जाती है। देखने से बिलकुल नही जान पडता कि वह तीन-चार बच्चो की माँ है। साफ-सुथरा क्वाँरा-सा चेहरा—यद्यपि उसमे अब वह लुनाई नही है, जो यौवन के शुरू के वर्षों की विशेषता होती है।

चाय पीते हुए मैंने मदन से कहा, 'भाभी जी को देखकर समझ मे आया कि क्यो तुम जल्दी-जल्दी बच्चे पैदा करने को मजबूर हो गये।' मदन सकोच-व्यजक मुद्रा मे सस्वर हँसा; विभा भी हँसी, पर ज्यादा सहज ढंग से—दूधिया, स्वच्छ हँसी जिसका आकर्पण सिर्फ आँखो को गुदगुदाता है।

'आपका श्रीमती अजय से परिचय है'? मैंने पूछा। 'जी हाँ, थोडा-थोड़ा', उसने वैसे ही सहज भाव से हलके हास के साथ कहा, 'थोड़ा क्यों, डॉ० मदन तो अजय के अच्छे दोस्त है।' 'जी हाँ···बात यह है कि मिसेज अजय कुमार कुछ ज्यादा ऊँचे दिमाग की है। बड़े घराने की हैं और ज्यादा पढी-लिखी भी।'

विभा ने सिर्फ इन्टर तक पढा है। मदन के पास आने के बाद वह चाहती थी कि आगे पढे, पर गिरस्ती की झझटों मे सम्भव न हो सका।

'तुम्हारी पत्नी बडी सुन्दर और सुशील है', घर के बाहर निकलते हुए मैंने मदन से कहा। 'लेकिन दोस्त, अब बच्चों का सिलसिला बन्द होना चाहिए।'

मदन ने फिर सस्वर, संकोच से भीगी हँसी हँसी। मुझे आश्चर्य हुआ कि कैसे कोई व्यक्ति तीन-चार बच्चो का बाप हो जाने के बाद भी उतना सकोची बना रह सकता है।

लेकिन अब मैं मदन को ज्यादा भीतर से जानता महसूस करता हूँ। मुझे आभास होता है कि उसकी अन्तर्मुखी सकोचशीलता और पत्नी-परायणता मे एक भीतरी लगाव है। मदन अच्छा स्कॉलर ही नही, सद्गृहस्थ भी है। स्पष्ट ही वह अपनी पत्नी से, और शायद बच्चो से भी पूरा-पूरा सन्तुष्ट है।

मैं इस तरह के संतोष को, जो शायद मुझे कभी नही मिल सकेगा, एक तरह की प्रतिक्रियावादिता मानता हूँ—एक तरह की गद्दारी! मेरी

राय में मेरे युग के किसी व्यक्ति को उतना सन्तुष्ट होने का अधिकार नही है।…लेकिन मदन का यह यथार्थोन्मुख मनोभाव—मेरा मतलब है अपने और पत्नी के सम्बन्ध के प्रति—सचमुच ही आधुनिक है। भेद यही है कि उस मनोभाव का विषय उसकी अपनी बीवी है, यानी कि धर्मपत्नी, यानी कि…बेचारा डॉक्टर मदन! और बेचारा क्वांरा निगम! मेरे गुमराह मन को जो उचित और मुनासिब है वही बेतुका नजर आता है!

× × ×

अजय को वक्तन-बवक्तन अपना लेक्चर पिला देना, इधर एक-डेढ वर्ष से मेरी जीवनचर्या का एक हिस्सा बन गया है। वजह यह है कि इधर उसके व्यक्तित्व मे मेरी दिलचस्पी लगातार बढती गई है, और उसी अनुपात में उसकी चिन्ता भी। साफ बात यह कि मैं सीरियस्ली (सजीदगी से) उसके दिमाग और व्यक्तित्व को बदलने की कोशिश कर रहा हूँ। उससे परिचय होने के शुरू महीनो मे वह भी कुछ ऐसी कोशिश करता रहा था—जैसा कि उसने स्वय एक दिन कबूल किया था। लेकिन उसके विदेश से लौटने के बाद स्थिति धीरे-धीरे बदलने लगी। शुरू मे हम दोनो एक-दूसरे के मत-परिवर्तन के लिए प्रयत्नशील थे, अब यह प्रयत्न सिर्फ मेरी ओर से चलता जान पडता है। क्या कहा, मैं अजय को बदलकर अपना अनुयायी, यानी ज्यादा आधुनिक, अपने युग के प्रति ज्यादा वफादार बनाने की कोशिश में हूँ? शायद; शायद नही भी। अजय की उपस्थिति मे कभी-कभी मुझे अपने मिशन और प्रयत्न दोनों की सचाई में सदेह होने लगता है। एक-दूसरे के आमने-सामने बातचीत करते हुए, उसकी बाते सुनते हुए कभी-कभी मुझे लगता है मानो वे बाते मेरे ही भीतर छिपी हुई किन्ही गूढ भावनाओ या प्रतीतियों को प्रतिध्वनित कर रही हों। ऐसी अनुभूति के क्षणो मे मुझे अपने और अजय के बीच एक छिपी हुई एकता का आभास होता है—जैसे वह और मैं किसी एक ही यथार्थ के दो पहलू हों। लेकिन इस भावस्थिति से अपने को मैं शीघ्र ही काटकर अलग कर लेता हूँ। मै सही-सही जानता हूँ कि वैसी स्थिति एक खतरनाक चीज है, दोहरे खतरे से भरी हुई। सबसे बडा खतरा है रहस्यवाद के कुहासे में खो जाने का; दूसरा प्रतिपक्षी में यह आभास जागने का कि आपको अपनी मान्यताओ मे पक्की आस्था नही है। मैं नही

चाहता कि अजय के मन मे कभी इस तरह के खयाल की छाया भी पड़े। उसके सामने मैं एक दृढ़ आस्था वाले दृढनिश्चयी मिशनरी के रूप मे ही उपस्थित रहना चाहता हूँ।

कोई पूछे कि मुझे अजय के व्यक्तित्व मे इतनी दिलचस्पी क्यों है। मुझे अच्छी तरह याद है—यह दिलचस्पी शुरू मे इतनी गहरी और तीखी नही थी। तब मुझे वह बहुत-से साथियो मे से एक जान पडता था। शुरू के महीनो मे, विदेश जाने के पहले, मेरे मन मे उसका जो कुछ आकर्षण था वह उसकी बौद्धिकता और प्रतिभा के कारण। उससे बहस करने मे मुझे लुत्फ आता था और शायद उसे भी। उन दिनो अस्थाना भी यही था; वह भी हमारी बहस में हिस्सा और रस लेता था। लेकिन विदेश से लौटने के बाद अजय बहुत बदला हुआ दिखाई दिया। मैंने देखा कि अब वह बहस से कतराता है और मेरी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, तीखी-से-तीखी दलीलो को सुनकर कुछ ऐसे भाव से देखने लगता है जैसे वे दलीलें एकदम ही उसकी समझ मे न आ रही हो। ऐसे अवसर पर वह एक विचित्र खोयी-सी मुद्रा में खुद मेरे चेहरे या सामने शून्य की ओर देखने लगता है—जैसे मैं या सामने का सूनापन कोई गूढ आकर्षक पहेली हो। मैं स्वीकार करूँ कि उसकी यह रहस्य की मुद्रा मेरी चेतना को एक अज्ञात आकर्षण मे लपेटने लगती है। लगता है जैसे वह किसी ऐसी चीज को देख रहा है जिसकी प्रतीति से मैं वचित हूँ। मैं कुछ क्षण उसकी इस मुद्रा को चकित विस्मय से देखता हूँ, फिर मानो किसी खतरे की आशका से, सजग और सचेत होकर उससे और कुछ हद तक अपने से भी बचने की कोशिश मे स्पष्ट बुद्धि और तर्क के धरातल पर दाखिल हो जाता हूँ।

अजय का चेहरा कुछ ज्यादा सौम्य और कोमल है; उस पर आसानी से तरह-तरह की भावस्थितियाँ अकित होती चलती है। इधर लगता है कि उसके चेहरे मे रहस्य और उदासी की भावनाएँ अधिक स्थायी घर बनाने लगी है। मुझे ठीक याद है, एक-डेढ बरस पहले उसकी मुख-छवि मे ये व्यजनाएँ इतनी प्रधान और अभ्यस्त न थी; तब वह ज्यादा प्रसन्न और बौद्धिक दृष्टि से ज्यादा प्रखर और आत्म-विश्वासी जान पड़ता था। यह ठीक है कि प्रवास से लौटने के बाद वह कभी-कभी, अब की तरह, उदास भी

दीखता था; लेकिन इन दिनो उसके चेहरे पर अक्सर एक तरह की आस्था और उल्लास की आभा रहती थी। सच पूछिए तो उसके व्यक्तित्व मे मेरी खास दिलचस्पी एक ऐसे क्षण से शुरू हुई थी जब मैंने उसकी आँखों और चेहरे मे इस तरह की ज्योतिर्मयी आभा का पहली बार साक्षात्कार किया था।

वह दिन और वह क्षण मुझे आज भी प्रत्यक्ष की तरह दिखाई देता है। अजय और मैं खासे मित्र थे, फिर भी हम लोग एक-दूसरे के घर लगभग नही ही जाते थे। पिछले दो वर्षों मे, जब से अजय इस शहर मे आया है, मैं उसके घर सिर्फ दो बार गया हूँ, एक बार उसके विदेश जाने से पहले और एक ही बार उसके लौटने के बाद। माना कि शीलाजी विशेष सुन्दर हैं, लेकिन मेरा यह स्वभाव है कि मैं मित्रो के घरों पर पहुँचकर उन्हे खातिर-तवाजो का कष्ट नही देता। मैं उनसे कॉफ़ी-हाउस मे ही मिलना पसन्द करता हूँ। दरअसल बात यह है—मैं नही चाहता कि मेरे परिचित और मित्र मेरे डेरे पर आएँ और मेरे रहने के अस्त-व्यस्त ढग को लेकर टीका-टिप्पणी या उपदेश करें। अजय के और मेरे तौर-तरीको मे विशेष अन्तर है, इसलिए मैं और भी नही चाहता था कि उसके घर पहुँचकर उसे अपने डेरे पर आने का प्रोत्साहन दूँ। वैसे अजय का घर कुछ दूर भी पड़ता है।

फिर भी वह एक दिन मेरे घर यानी कमरे मे पहुँच ही गया। मैंने ख्वाब मे भी नही सोचा था कि मुझे अपने इस कमरे मे, जो एक सँकरी गली में दूसरी मंजिल पर है और जिस तक मेहमान को ले जाने वाला ज़ीना तंग हो नही अँधेरा भी है अजय जैसे व्यक्ति का स्वागत करना पड़ेगा। उस दिन शायद पहली बार, मुझे अपने रहन-सहन के तरीके को लेकर कुछ वैसी भावना हुई जिसे खेद या पश्चात्ताप कहते हैं। मेरे मन मे खयाल हुआ—काश कि मेरी जीवनचर्या कुछ भिन्न होती। मैंने स्पष्टता और बेचैनी के साथ इसका अनुभव किया कि मेरे मेजबान की स्थिति मेहमान की सहज सुरुचि और नफासत से एकदम ही बेमेल थी। खरियत यह कि अजय की खूबसूरत पत्नी उसके साथ नही थी।

अब सोचता हूँ कि मेरी उस दिन की घबराहट, या बेचैनी, बहुत-कुछ बेकार थी। अजय और कुछ भी हो, स्नॉब नही है। वह, स्नेह और विश्वास

के अतरंग धरातल पर, कितना करीब आ सकता है, इसका गहरा अनुभव मुझे उसी दिन हुआ। उस दिन का हम दोनो का सम्मिलन हमे एक-दूसरे के निकट लाने का सबसे बड़ा अवसर बन गया।

अजय का उस दिन मेरे यहाँ आना एक खास परिस्थिति मे हुआ था। वह करीब के सिनेमाघर मे एक फिल्म देखकर लौटा था और कुछ ज्यादा उत्तेजित था। मेरे पास आने का सबब यह था कि मैं भी उस फिल्म को देख चुका था। फिल्म की कहानी एक वास्तविक घटना पर आधारित थी, जिसकी कुछ महीने पहले अखबारों मे सनसनीखेज चर्चा रही थी। फिल्म मे तीन मुख्य पात्र थे, नायक अनिल, उसकी पत्नी नीना और नायक का मित्र अशोक; बाद मे यह मित्र शराबी और कुछ अनिश्चित चरित्र का व्यक्ति सिद्ध हुआ, जिसने नायक की गैरहाज़िरी मे, उसकी सुशिक्षित और आधुनिक पत्नी को पार्क-बगीचो व बाजारो मे घुमाने और दूसरे बहानो से अपने करीब खीच लिया। एक दिन जो, एक साथ ही उसके पति का जन्म-दिन और उसके विवाह की सातवी वर्षगाँठ भी था, नीना ने अशोक की ज़िद से शराब पी ली और, नशे की हालत मे अपने को अर्पित भी कर दिया। चार महीने बाद विदेश से लौटकर आए नायक अनिल ने इस तथ्य को भाँप लिया कि उसकी पत्नी ने उसे धोखा दिया है। अनिल तेज सवेगो का व्यक्ति था, जिस पर बाद मे उसके मित्र की हत्या का इल्जाम लगाया गया। अनिल ने एक बार नीना का गला घोटने की कोशिश भी की।

जैसा कि मैंने कहा, मैं इस फ़िल्म को देख चुका था। मैं फिल्म देखने सिर्फ मनोरजन के लिए जाता हूँ, किसी ऊँची तृप्ति के लिए नही। अपने देश की फिल्मों से कलात्मकता की माँग करना यो भी, मेरी राय मे, मुनासिब नही है। अपने देश के लोग कल्पना के हवाई किलो मे रहने के अभ्यस्त हैं; वे न तो यथार्थ को देखने की योग्यता ही रखते है, न उसे देखना पसन्द ही करते है। मैंने अजय से साफ कहा कि मुझे उस फ़िल्म मे कोई ऐसी बात नही दीखी जिसे लेकर वह या मैं माथापच्ची करें।

लेकिन अजय का मूड और प्रतिक्रिया कुछ भिन्न ही कोटि की थी, जिसके कारण मुझे उसके साथ, उस फिल्म को लेकर, बहुत देर तक बातचीत करनी पडी। अजय ने दो प्रश्न किये। एक, क्या यह सम्भव है कि नीना, जो

अपने प्रेमिक पति के प्रति इतनी आसक्त थी, एक दूसरे व्यक्ति को सचमुच प्रेम करने लगे ? दूसरे, क्या यह मुमकिन था कि अनिल (नीना का प्रेमिक और पति), सिर्फ इतनी बात पर और इतनी जल्दी, नीना से उत्कट घृणा करने लगे—जैसा कि फिल्म मे दिखाया गया था ?

प्रेम के बारे मे अजय की जो फिलासफी है, उससे मैं थोड़ा-बहुत परिचित हूँ, अफसोस की वह फिलासफी मुझे एकदम ही माफिक नही आती। अजय के प्रश्नो के पीछे झाँककर मैं यह जानने की कोशिश कर रहा था कि आखिर उसकी परेशानी का कारण क्या है। कुछ हद तक अजय का विश्वास पाने के लिए, और कुछ अपनी फिलासफी को पुष्ट करने के लिए, मैंने उस दिन अजय को अपनी जिंदगी का वह अध्याय सुना डाला जब मेरा सरोज से सम्पर्क-सम्बन्ध हुआ था। मैं अपनी कहानी लम्बी करके भी सुना सकता था और थोड़ी-बहुत भावुकता के साथ भी, लेकिन मैंने उसे सक्षेप मे कह देना ही उचित समझा।

आप शायद सोचते हों कि मेरे जैसा व्यक्ति कभी किसी से प्रेम नहीं कर सकता। स्वभावत: आपका यह निर्णय मेरे मौजूदा व्यक्तित्व की जानकारी पर आधारित होगा, और ठीक ही होगा। लेकिन मेरी तरह आपको भी यह सोचकर आश्चर्य हो सकता है कि कालेज की पढाई के दिनो मे जब मैं बी० ए० फाइनल का छात्र था, तो मैंने, काफी गम्भीरता से एक सरोज नाम की लडकी से प्रेम किया था। आज मुझे यह सोचकर अचरज ही नहीं, कुछ और भी होता है—एक तरह का पश्चात्ताप कि मेरे जैसा व्यक्ति कैसे उस तरह के चक्कर मे पड़ सका था। सरोज मेरे कितनी निकट होगई थी। एक ही कालेज के विद्यार्थी और फिर एक ही समिति मे—कालेज की साहित्य-नाट्य-परिषद् मे—कार्यकारिणी के सदस्य होने की हैसियत से सहयोगी। बाद मे मेरे और उसके परिवारो के बीच भी करीब का सम्बन्ध बन गया था। उन दिनो वह मुझे कितनी आकर्षक लगती थी—शिष्ट और समझदार और मीठी। मुझे अच्छी तरह याद है, शुरू वर्ष मे मुझे पटना शहर ज्यादा पसद नही था। लेकिन सरोज से परिचय और घनिष्ठता होने के बाद जैसे सब-कुछ बदल गया था। कैसी अजीब बात है, हमारे खुद बदलने के साथ हमारा परिवेश, हमारी दुनिया, सबमे परिवर्त्तन आ जाता है।

सरोज डॉक्टर सिनहा की अकेली लड़की थी; डॉक्टर साहब की प्रैक्टिस बहुत बढ़िया नहीं थी, पर मामूली से अच्छी थी। कुछ दिनों उन्होंने मेरे पिताजी की खाँसी का इलाज किया था; धीरे-धीरे वे मुझमें काफी दिल-चस्पी लेने लगे थे। कभी-कभी मेरे अध्ययन की प्रगति के बारे में पूछते, सरोज की प्रगति के सम्बन्ध में भी, जो बी० ए० प्रथम वर्ष की छात्रा थी, मेरी राय जानने की कोशिश करते। यों डॉ० सिनहा गम्भीर प्रकृति के व्यक्ति थे, कमसखुन और छोटों से दूरी बरतने वाले। उनके साले के लड़के यानी सरोज के ममेरे भाई के विवाह के मौके पर एक बार जब सरोज को गया पहुँचाने का सवाल उठा, तो उन्होंने सीधे मुझसे नहीं, मेरे पिताजी से बातचीत और परामर्श किया। दोनों के सम्मिलित निर्णय से ही मुझ पर यह भार डाला गया कि मैं सरोज को, एक दिन की ट्रेन से, गया छोड़ आऊँ। श्रीमती सिनहा पहले ही जा चुकी थीं; खुद डॉ० सिनहा दो दिन बाद वक्त के वक्त पहुँचना चाहते थे।

मुझे सेकण्ड क्लास में जाने का किराया मिला था, पर मैंने जान-बूझकर फर्स्ट क्लास का टिकट ले लिया था—इस आशा में कि शायद, इस तरकीब से, हम दोनों को अकेले सफर करने को मिल जाए। मेरी तरकीब आधी से ज्यादा दूरी तक कारगर भी हुई थी।

ट्रेन के सफर की बात मैंने अजय को नहीं सुनाई; लेकिन, काफी नमक-मिर्च के साथ, यह बात उस पर प्रकट कर दी कि बाद में, या तो इसलिए कि मैं मन से सरोज में ससक्त रहने के कारण बी०ए० तीसरी श्रेणी में ही पास कर सका, या इसलिए कि डॉ० सिन्हा को एक ज्यादा रईस वर के साथ रिश्ता जोड़ने का मौका मिल गया, उन्होंने, पिताजी के साथ हुई बातचीत के विरुद्ध, अपनी लड़की का विवाह मेरे बदले किसी दूसरे से कर दिया। जहाँ तक मुझे मालूम हो सका, खुद सरोज ने इस दूसरे सम्बन्ध के विरुद्ध कोई सबल आपत्ति या विद्रोह नहीं किया।

जिन दिनों सरोज की शादी हुई, पिताजी और मैं बनारस में थे। अवश्य ही हमें निमन्त्रण भेजा गया था, लेकिन सिर्फ छपा हुआ निमन्त्रण, विवाह से काफी पहले सरोज ने क्रमश. मेरे पत्रों का उत्तर देना कम कर दिया था; धीरे-धीरे उसके पत्र ठण्डे भी पड़ने लगे थे; अन्तिम पत्र में यह

सकेत भी दिया गया था कि उसके पिताजी उसका विवाह किसी दूसरी जगह तय कर रहे थे।

मैंने अजय को, वहुत सक्षेप मे, अपने और सरोज के सम्वन्ध की कहानी सुना दी। इघर कुछ दिनों से मेरे मन में अजय के अतीत के सम्वन्ध मे कुछ सन्देह होने लगा था, मुझे लगता था कि उसकी मनोदशा उतनी स्वस्थ नही है जैसी कि प्रवास से पहले थी। इस सन्देह के कारण मैंने उसे उक्त कहानी से सम्वन्धित एक और वात भी वतला दी। एम०ए० की परीक्षा देने के कुछ दिनों वाद मुझे एक वार पटना जाने का मौका हुआ था। वहाँ मैं डॉ० सिनहा से मिलने गया; मालूम हुआ कि सरोज वही आई हुई है। वस्तुत. उस वक्त डॉ० सिनहा घर पर नही थे और मेरी आवभगत का भार सरोज पर ही पड गया था। मैंने एकाएक गहरे आश्चर्य से देखा: सरोज एकदम ही वदल गई थी। वह इघर कुछ मोटी हो गई थी, और वैसे भी ज्यादा वयस्क हुई जान पडती थी। मुझे आश्चर्य हुआ; और मैंने मन-ही-मन अपने को वधाई दी कि मैं उस नितान्त साधारण, अविश्वसनीय, अहम्मन्य और अव वेडौल हुई लडकी के साथ वँध जाने से वच गया था।

और तव मैंने सोचा था: जिस चीज को आज हम स्पृहणीय समझते हैं, हमेशा-हमेशा के लिए पकड़ने और सँजोकर रखने के लायक, वह कुछ ही दिनो वाद, वदलकर उवाने वाली भी सिद्ध हो सकती है। कहाँ कालेज मे पढने वाली सरोज का वह पहला छरहरा, स्वस्थ किन्तु चुस्त व्यक्तित्व, और कहाँ यह दिल-दिमाग-शरीर से स्थूल हुआ डीलडौल। सरोज का शरीर ही नही, उसकी भाव-भंगी, हँसने और मुस्कराने का ढग, उसकी वातचीत, सवमे जड-मूल का परिवर्तन हो गया था।

सरोज ने मुझे चाय पिलाई थी। थोडी ही देर वाद वैठने पर मुझे मालूम हुआ था कि वह एक आठ-नौ महीने के वच्चे की माँ वन गई है। आया वच्चे को लेकर ड्राइगरूम मे आई थी—शायद सरोज चाहती थी कि मैं उसे देखूँ और सराहूँ। पर, न जाने क्यों, मुझे यह आभास कि सरोज माँ वन गई है, एक व्यवसायी पति के वच्चे की माँ, एकदम ही कुरूप और अरुचिकर लगा था। और सरोज ने वच्चे को सम्वोधित करके, उसे हँसाने की कोशिश करते हुए, जव यह कहा कि ये, यानी मैं, उसका मामा हूँ, तो

मेरे मन मे एक साथ ही विनोद और खीझ का भाव जगा था। मुझे एकाएक उस यात्रा की याद आ गई थी, जो मैंने और सरोज ने फर्स्ट क्लास के डिब्बे मे साथ-साथ की थी। उस वक्त मुझे, एक साथ ही, दोहरा-तिहरा आश्चर्य हुआ था : सरोज के नये बदले रूप पर, उसकी ढोगभरी विस्मृति और नये अन्दाज़ पर, परिस्थितियो के अजीबोगरीब उलट-पुलट पर और मनुष्य के सम्बन्धो की चौकानेवाली परिवर्तनशीलता पर।

मैंने अपने मित्र को विजय के भाव से यह सब बतलाया। कहा : मिस्टर अजय, उस दिन, जो मेरी और सरोज की आखिरी मुलाकात का दिन था, मेरे चित्त मे उस दार्शनिक दृष्टि का स्पष्ट स्फुरण हुआ था, जो आज मेरी जीवन-यात्रा का सबल और रोशनी है।

मेरी कहानी सुनकर अजय एकाएक गम्भीर हो गया था। स्पष्ट ही उसके सम्बन्ध मे उसकी प्रतिक्रिया जरूरत से ज्यादा सजीदगी लिये हुए थी। कुछ देर बाद, मेरे कुरेदने और उकसाने पर, उसने संक्षेप मे अपनी राय प्रकट करते हुए कहा था : तुम या तो सरोज को कभी प्यार नही करते थे या फिर अभी तक उसे भुला नही पाये हो।

यानी कि या तो मैंने उससे कभी प्रेम नही किया, या अभी भी करता हूँ ? लेकिन इस मामले मे एकमात्र गवाह मैं ही हो सकता हूँ, न कि कोई दूसरा। कोई वजह नही कि तुम या कोई और मेरे वक्तव्य मे सन्देह प्रकट करे।

अजय चुप रह गया था। मैंने अपनी पुष्टि करते हुए कहा था—तुम्हें यह मानने मे क्यों एतराज है कि मैं सरोज के बाह्य आकर्षण और रूप-रग को प्यार करता था और जब वह आकर्षण खत्म हो गया—यानी कि पटना वाली इस आखिरी भेंट मे जब मैंने उसे एकदम बदली हुई पाया—तो पहले का प्यार भी खत्म हो गया ?

अजय चुप। कभी-कभी मित्रो की चुप्पी मुझे बेहद खल जाती है। मै अन्दर की पूरी शक्ति से, पूरी सजीदगी से, तर्क करने की कोशिश कर रहा था और अजय—उसके लिए मानो मेरे तर्क-वितर्क का कोई महत्त्व ही नही था।

थोड़ी देर वह खामोश रहा था और फिर, बड़ी तल्लीनता और

आर्द्रता के भाव से, मुझे अपनी प्रेम की फिलासफी समझाने लगा था। उस फिलासफी में कोई ऐसी नई बात नही थी—मेरे खयाल से ज्यादातर फिलासफियाँ अस्वाभाविक और जरूरत से ज्यादा हवाई व अमूर्त होती है। हर फिलासफी अनुभव की विविधता को एकता के काल्पनिक सूत्र मे पिरोने की कोशिश करती है; हर ऐसी कोशिश बहुत हद तक अस्वाभाविक होती है और इसीलिए कमोवेश अनुभव का विरोध करने वाली। उन दिनों अजय सीरियसली एक निजी फिलासफी बनाने—विकसित करने की धुन मे था; उसका मित्र होने के बावजूद मुझे उसकी इस कोशिश मे कभी दिलचस्पी नही रही। अब उसकी 'क्रिएटिव प्रॉसेस' भी निकलने वाली है; मजबूरन मुझे उसे पढना पड़ेगा; पर मैं अभी से जानता हूँ कि मैं अपने मित्र को, उसके विचारो या 'दृष्टि' के लिए, विशेष बधाई नही दे सकूँगा—भले ही उसकी शैली, युक्ति-योजना आदि को लेकर थोड़ी-बहुत प्रशंसा कर दूँ। अजय इसको जानता है, पर उसे मेरी अनुकूल-प्रतिकूल आलोचना की ज्यादा परवाह नही है।

लेकिन उस दिन अजय की प्रेम-सम्बन्धी स्पीच मे (उसे मैं स्पीच ही कहूँगा, क्योकि वह काफी देर तक अकेले, मेरे द्वारा नाममात्र के हस्तक्षेप के साथ, बोलता रहा था) जिस चीज़ ने मुझे, मेरी इच्छा के विरुद्ध, आकृष्ट व प्रभावित किया, वह थी उसकी पूर्ण आस्था और सचाई की भावना—लग रहा था जैसे वह किसी प्रत्यक्ष, कल्पना के सामने उपस्थित या फिर सबल ढग से अनुभूत, मन-प्राण से महसूस की गई, वास्तविकता के बारे में कहने-समझाने की कोशिश कर रहा है, बिना यह हिसाब लगाये कि उसकी बात का श्रोता, यानी प्रतिपक्षी पर, कितना या क्या असर पड़ रहा है। लगता था जैसे वह, विवाद या हार-जीत की भावना से एकदम ही अलग होकर, एक तटस्थ द्रष्टा की भूमिका से, किसी ऐसे तथ्य का विवरण दे रहा है जिसे उसने अपने चर्म-चक्षुओं से प्रत्यक्ष देखा या अनुभव किया है।

उसकी बातें बहुत हद तक धूमिल और रहस्यमय थी—जैसी कि इस तरह की बाते हुआ करती हैं। फिर भी उन पर एक गहरी ईमानदारी और अनुभूत सचाई की छाप थी; खुद अपनी दृष्टि से वह ऐसी सचाई को प्रकट करने की कोशिश भर कर रहा था। मैं उसकी बातों को नही समझ सका,

उन्हे जोडने वाले सूत्र को नही पकड़ सका—यह सिर्फ मेरा ही दोष नहीं था; मैं समझता हूँ कि कोई दूसरा भी उन्हें ठीक से नही समझ सकता था; इसलिए नही कि वे बातें असम्बद्ध थी, बल्कि इसलिए कि उनका मेरे अनुभव से विशेष मेल नही था, विशेष क्या, कुछ भी मेल नही था। उदाहरण के लिए उसका यह कहना कि प्रेम सिर्फ आँखों से, सिर्फ होठो से, या शरीर से नही होता, बल्कि उससे जो आँखों की चितवन और होठो की मुस्कराहट मे अपने को व्यक्त करता है। इनमे जो व्यक्त होता है, वह मुख्य रूप मे एक तरह का आश्वासन है। एक तरह का सम्भावना-पुन्ज (ये शब्द खुद अजय के है); इस आश्वासन का सम्बन्ध उस समूचे दान की क्षमता, यानी वैसी क्षमता की झलक या विवृत्ति, से होता है, जिनकी स्थिति प्रेमपात्र के व्यक्तित्व मे है।

जैसा कि आप अनुमान करते होगे, मेरी समझ मे यह व्याख्या बिलकुल ही नही धँस सकी। लेकिन अजय के लिए उसकी व्याख्या या मन्तव्य एक प्रत्यक्ष-सिद्ध सत्य जैसा जान पड रहा था—जैसे कि वह उसका निदर्शन प्रत्यक्ष अपने सामने देख रहा हो। एक बार उसे बीच मे रोककर मैने कहा था, 'मेरे मित्र, तुम्हारी प्रेम की परिभाषा मे एक बड़ी खामी है, वह सिर्फ शरीर के प्रति अनुभव किये जाने वाले आकर्षण को नही समझा सकती।' अजय ने इस आरोप को स्वीकार नही किया था। एक सुदूर दिशा मे देखते हुए, मानो किसी चीज की उपस्थिति का फिर से आभास लेते हुए, उसने उत्तर मे कहा था: जिसे हम व्यक्तित्व कहते हैं वह शरीर और मन दोनों की अखण्ड एकता है, चाहे तो आप उसे शरीर और आत्मा की एकता कह सकते है; और वैसे व्यक्तित्व से जो आश्वासन या प्रतिश्रुति मिलती है, वह हमारे शरीर और आत्मा दोनो ही के लिए होती है। इस आश्वासन का सम्बन्ध मेरे व्यक्तित्व की रक्षा और तृप्ति दोनो ही से है—ऐसी चीजों का आश्वासन जो मेरे व्यक्तित्व की पूरक है, उसकी नितान्त आवश्यक जरूरतें, उसके विकास और अग्र गति का अनिवार्य सहारा।

अजय ने और भी न जाने क्या-क्या कहा, यह कि प्रेमपात्र का व्यक्तित्व प्रेमिक को उसकी अतर्निहित हलचल और बेचैनी से मुक्ति का और गहरी, समन्वित विश्रान्ति का, सदेश देता है—ऐसी शक्ति और ठहराव का आश्वा-

सन जो उसके आत्म के समंजस, प्रस्फुटन और विकास की जरूरी शर्त है; कि उसकी उपस्थिति—और स्मृति—एक मीठी गंध की तरह, हमारी चेतना-क्रिया मे नई पुलक और प्राण भर देती है; कि उसकी मुस्कराहट की किरणे हमारी ज़िदगी की गैलों को रगे हुए सौरभ-सी छाती-छेंकती जान पडती है; कि उसकी दृप्टि की स्वीकृति प्राणों मे शक्ति का नया लेप-सा देती है, कि···

जैसा कि मैंने कहा, उसकी वातें मेरी समझ से एकदम ही परे थी, मुझे वे विलकुल ही विश्वसनीय नही जान पडी। लगा कि वह इस धरती के नही, किसी कल्पना-लोक के वारे में, वहाँ देखी—अहसास की हुई चीज़ो की, रिपोर्ट दे रहा है। फिर भी मुझे इस वात का आश्चर्य था कि उसके चेहरे पर एक तरह की चमकती आस्था और सचाई की झलक थी—जैसे वह, अपनी तरफ से विना कुछ जोड़े, किसी प्रत्यक्ष देखे यथार्थ को वर्णित करने की कोशिश कर रहा हो। उसके मुख पर, हलकी उत्तेजना से मिला हुआ, अपूर्व स्निग्धता का भाव था, जो सीधे उस वास्तविकता द्वारा, जिसे वह कल्पना-नेत्रों से देखता प्रतीत होता था, उकीरा हुआ जान पड़ता था।

थोड़ी देर वाद जब वह चलने के लिए उठा, तो उसके मुख पर एक विचित्र आलोकपूर्ण मुस्कान थी। अपने सारे शका-सदेह के बावजूद मैं उसके चेहरे की उस स्वच्छ, कुंवारी आभा से विस्मित और प्रभावित हुए विना न रह सका। उसकी वह मुस्कराहट अक्सर मेरी कल्पना की आँख के सामने सुनहरी विजली-सी कौध जाती है।

मैंने उसकी वात ध्यान से सुनने का अभिनय किया था, इससे वह विशेष सतुप्ट जान पड़ा। यो भी लग रहा था जैसे वह, एक आवश्यक वोझे को वातचीत के माध्यम से हटाकर, हलका और सुचित महसूस कर रहा है। उसके जाने के वाद, एक नया सिगरेट जलाकर, मैं देर तक अपने मित्र की वातचीत का पूर्वापर समझने की कोशिश करता रहा था। स्पष्ट ही उस बातचीत का उसके व्यक्तिगत इतिहास से सबध था।···लेकिन वह व्यक्ति है कौन जो उसके मस्तिप्क में वैसी सूक्ष्म-तरल कल्पनाओं और उम्मीदों के उठाने-पनपने का कारण बन सका है? और मैंने सोचा: जान पड़ता है मेरा मित्र, कुछ अरसे से, किसी खतरनाक ट्रैजिक अनजान की राह पर

बढ़ रहा है—शायद अभी ही काफी बढ चुका है।

कुछ देर बाद, अपनी इच्छा के विरुद्ध, मैं फिर सरोज के बारे में सोचने लगा था। 'तुम या तो उसे कभी प्यार नही करते थे या फिर अभी भी उसे भुला नही पाये हो।' हूँ, किसी को क्या मालूम कि तब से अब तक मिस्टर निगम का जीवन अपने इतिहास के खाते मे कितने नये प्रकरण और परिच्छेद जोड चुका है।

मैंने अजय से कहा था कि सरोज से हुई अन्तिम भेंट के दिन मेरे मन मे एक नई दृष्टि और फिलासफी का स्फुरण हुआ था; लेकिन यह बात सोलह आने सच नही थी। सही यह है कि मेरे मन मे उस फिलासफी के बीज काफी पहले से पड़ने लगे थे : सरोज के साथ हुई उस दिन की मुलाकात और उसके व्यवहार से वे बीज एकाएक एक अंकुर बल्कि पौधे की शक्ल मे जाहिर हो गये थे।

पटना से तबादला होने पर हम लोग बनारस आये थे। वहाँ हमारा अपना घर था, जो हाल ही मे खाली कराया गया था। दो-तीन बरस पहले तक मेरे बाबा जीवित थे। कुछ काशी के प्रेम से, और कुछ पिताजी के साथ रहने की अनिच्छा से, वे बनारस मे ही रहना पसन्द करते थे। मेरे पिताजी लडकपन से ही आर्यसमाजी बन गये थे, जबकि बाबा विचारो मे परम्परा के पोषक थे। पिताजी स्वभाव से शुष्क, शासनप्रिय और सिद्धान्तवादी रहे है; इन दृष्टियो से बाबा करीब-करीब उनके विपरीत थे। बचपन से मुझे माँ-बाप की अपेक्षा बाबा, और दादी से भी, जो उनसे दो साल पहले ही गुज़री थी, ज्यादा प्यार मिलता रहा था।

परीक्षाफल बिगड जाने के कारण पिताजी मुझसे नाखुश थे; यों भी वे मुझसे कभी विशेष प्रसन्न नही रहे। जीवन की अधिकांश चीजो के सबध मे पिताजी का रुख निषेधवादी रहा है : लडकों को यह और वह नही करना चाहिए, यह और वह खाना और पहनना नही चाहिए, यहाँ और वहाँ नही बैठना-उठना चाहिए, सिगरेट और भंग बिलकुल नही और चाय-कॉफी कम पीनी चाहिए, सिनेमा बहुत कम और हो सके तो बिलकुल नही देखना चाहिए, वगैरह-वगैरह। लडकपन से मेरी यह आदत रही कि पिताजी के विविध विधि-निषेधो की कम-से-कम परवाह करूँ—और हो सके तो पूर्ण

अवज्ञा। नतीजा यह कि मैं छिपकर, अक्सर स्कूल की हाजिरी को करके सिनेमा देखता और अक्सर दोस्तों के साथ, उनके घरों पर या दूसरे सुविधा के स्थलों पर पहुंचकर, जी भरकर चाय-कॉफी, भग आदि का सेवन करता। स्कूल की उम्र मे इसका ध्यान रखता कि बाहर से पिताजी को शिकायत का मौका न दूं, और उनके प्रति आदर-भाव प्रकट करने मे किसी तरह की कोताही न होने दूं; किंतु धीरे-धीरे, कालेज में पहुंचने पर, क्रमशः इस दिखावे की प्रवृत्ति मे कमी होती गयी। उम्र के साथ-साथ मेरी यह भावना दृढ़ होती गई कि मुझे व्यक्तिगत आजादी के उपभोग का अधिकार है। फल यह कि धीरे-धीरे अब यह स्थिति आ गई है कि पिताजी और मैं एक-दूसरे के बारे मे विशेष जानकारी रखने की कोई चिन्ता नही करते। समय-समय पर, कमोबेश नियमित रूप में, पिताजी मेरे लिए मासिक खर्चा भेज देते हैं—सो भी, कुछ इसलिए कि मैं उनका अकेला लडका हूं और वे कोशिश करके भी मेरी ओर से पूरे उदासीन नही हो पाते; और कुछ इस कारण कि पिताजी के वैसा न करने पर मेरी माँ चैन से न रह सकेगी। यों यह निश्चित ही समझिए कि पिताजी को मेरी अपेक्षा प्रभा जीजी और उनके बच्चो से ज्यादा मुहब्बत है।

परीक्षाफल को लेकर पिताजी कभी-कभी मुझे कड़वी-तीखी बाते, जिनमे विभिन्न अनुपातों में, उपदेश और भर्त्सना का मिश्रण रहता, सुना देते। माँ स्वभाव से अल्पभाषी थी, वे पिताजी की बातो मे दखल देना बहुत कम पसन्द करती। नतीजा यह कि मैं घर मे अकेला-सा महसूस करता। सरोज से पत्रो के नियमित उत्तर न पाने के कारण मुझे अपना अकेलापन और भी असह्य जान पड़ता।

मैंने अंगरेजी एम० ए० मे दाखिला ले लिया था। सितम्बर के दूसरे सप्ताह मे एक बड़ी दर्दनाक घटना घटी। मेरे स्कूल के दिनो के एक साथी थे उपेन्द्र तिवारी, वह भी इस समय एम० ए० मे थे। बड़े मेहनती और काफी बुद्धिसम्पन्न; हाईस्कूल और इण्टर मे उन्हें प्रथम श्रेणी मिली थी, पर बी० ए० में सेकण्ड क्लास रह गया था। दोस्तों का कहना था कि उपेन्द्र के डिवीजन खराब होने का कारण उसका जरूरत से ज्यादा पढ़ लेना था। उसके मस्तिष्क मे कोर्स से संबंधित इतनी ज्यादा सामग्री भरी रहती कि उसे

परीक्षा मे ठीक से चयन करना कठिन हो जाता। परीक्षा मे प्रश्नों के उत्तर मे बहुत ज्यादा लिखने के फेर में वह कभी-कभी मुख्य बातो को भी स्पष्टता और सही गौरव के साथ न कह पाता। घर मे मन उचटा रहने के कारण मैं इधर उपेन्द्र के पास ज्यादा जाने लगा था। यह भी खयाल था कि उसकी संगति से कुछ अधिक अध्ययन करने की आदत पड़ेगी, और सरोज की ओर मन कम जाएगा। दुर्भाग्यवश अगस्त के पहले सप्ताह मे, उपेन्द्र बीमार पड़ गया। शुरुआत तेज बुखार से हुई थी; डॉक्टर ने कहा टाइफाइड है। लगभग तीन हफ्ते टाइफाइड का इलाज होता रहा। इस बीच मे बुखार कम भी हुआ, पर रोगी की हालत सुधरती दिखाई नही पड रही थी। वह धीरे-धीरे कमजोर होता जा रहा था। लगभग बीस दिन बाद रामनगर के सिविल सर्जन ने उपेन्द्र की परीक्षा कर कहा : इन्हे ब्लड-कैंसर हो गया है। उसके पाँचवें दिन ही उसकी मृत्यु हो गई।

उपेन्द्र की मृत्यु, शवयात्रा, दाहकर्म : मेरी समझ मे नही आ रहा था कि यह क्या हो रहा है।

उपेन्द्र मेरा साथी था, पर शायद मुझे उससे उतना ज्यादा लगाव न था। मुझे दु.ख था तो यह सोचकर कि वह पढने मे इतना ज्यादा परिश्रम करता रहा था, और उस परिश्रम का कोई एवज़ नही पा सका था। पर दु.ख से ज्यादा आश्चर्य था; अकस्मात् सब-कुछ को छोडकर, आगे-पीछे की अपनी सारी योजनाओ को किसी अँधेरे मे साथ समेटे, वह एकाएक कहाँ गायब हो गया था ?

और मुझे महसूस हुआ कि उपेन्द्र के इस तरह चले जाने से मेरे सामने की दुनिया, वह दुनिया जिसमे मैं रहता था, एकाएक बदलकर और-से-और हो गई।

सोते-जागते, पढते हुए, घूमते हुए मेरे मस्तिष्क की आँखे दूर किसी शून्य पर जाकर टिक जाती, और मुझे लगता कि सारा संसार, दुनिया के सारे प्राणी, स्त्री और पुरुष, क्रमशः उस शून्य मे घुसकर रहस्यमय ढग से गायब होते चले जा रहे है।

उपेन्द्र की मृत्यु के सिर्फ महीने-डेढ़ महीने बाद ही मुझे सरोज के विवाह का शुभ समाचार और निमंत्रण मिला। इन घटनाओ ने मुझे अपने अतीत

से, यानी उस दुनिया से जिसमें मै अब तक कुछ सरल-सीधी आस्थाओं के साथ जी रहा था, एकाएक विच्छिन्न कर दिया।

कुछ दिनों वाद मेरे घर और मेरी जिन्दगी मे दो नये व्यक्तियो ने प्रवेश किया। इनमे एक वड़ी साधारण हस्ती थी, और दूसरा, कई दृष्टियों से, एक असाधारण व्यक्तित्व। पहला व्यक्ति हमारी नई महाराजिन थी, यानी शोभा; दूसरा व्यक्ति था श्रीकान्त सेठ, जो एक प्रसिद्ध जर्नलिस्ट (अखबारनवीस) व लेखक था। सेठ के साहित्यिक जीवन और इतिहास का विचार करते हुए मुझे कभी-कभी बड़ा अचरज होता है। उन दिनो सेठ ने साहित्य के क्षेत्र मे नया-नया कदम रखा था; शुरुआत कविताओ से की थी, लेकिन कुछ दिनो वाद कहानियाँ और समीक्षाएँ भी लिखने लगा था। विशेषत· सेठ को इस वात का दावा रहा है कि वह कला यानी चित्रकला का विशेष जानकार और पारखी है। उन दिनों वह कई वर्ष वम्वई मे बिताकर वनारस आया था; साहित्यिक नवयुवको के वीच उसकी वड़ी चर्चा थी। उसकी कविताओं मे खास ढंग का नयापन और ताजगी थी, जिसके कारण उसने थोड़े ही अरसे मे समीक्षको का ध्यान आकृष्ट कर लिया था। जैसा कि उसने प्रकट किया, वह प्रतियोगिता परीक्षा की तैयारी के सिलसिले मे बनारस सिर्फ छ. महीने के लिए आया हुआ था, और दशाश्वमेध के पास एक होटल मे ठहर गया था। एक हिन्दी लेखक का होटल मे लम्वी अवधि तक ठहरने का निश्चय उन दिनो हमे अपने मे एक नई बात जान पड़ी थी। वैसे सेठ का समूचा व्यक्तित्व ही नवीनता लिए और आकर्षक था : लम्बा कद, इकहरा पर स्वस्थ शरीर, उजला रंग, और कुछ लम्बा, चमकता हुआ चेहरा जिसकी ठोडी से होठो के नीचे तक उगे हुए घने, चिकने, काले वाल उसके व्यक्तित्व को एक विजातीय निरालेपन का आकर्षण प्रदान करते जान पड़ते थे।

एक दिन मुख्यतः मेरी कोशिश और सरगर्मी से सेठ को विश्वविद्यालय की एक साहित्यिक गोष्ठी में बुलाया गया। वहाँ उसने अपनी नई शैली की कविताओं का सफलता से पाठ किया। उसी दिन से मेरी सेठ से घनिष्ठता हो गई। धीरे-धीरे मैं उसके डेरे पर पहुँचने लगा; क्रमशः उससे भेंट करना मेरा रोज़ का नियम बन गया। जैसा कि मैंने कहा, उन दिनो मैं अपने पुराने

विकारों और विश्वासो मे एक व्यापक और दूरगामी विघटन का अनुभव कर रहा था, जिसके मानी थे—दिमाग और वुद्धि को घेरती हुए एक अँधेरी रिक्तता। सेठ ने इस रिक्तता मे क्रमश. नये विचारों का प्रकाश उँडेलना शुरू कर दिया।

इसमे सन्देह नही कि सेठ एक प्रवुद्ध, आधुनिक किस्म का व्यक्ति है। इस वक्त शायद मैं उसके प्रति ज्यादा आदर का भाव नही रखता, लेकिन सैद्धान्तिक रूप मे मैं उसमे कोई चीज़ ऐसी नही पाता जिसे अवाछनीय या अनुपयुक्त कहा जा सके। सेठ अव भी मेरा एक अच्छा दोस्त है, उसका व्यक्तित्व मुझे अभी भी आकर्षक लगता है। यह आकर्षण वना रहा है, इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि वह और मैं कुछ ही दिनों वाद एक-दूसरे से अलग हो गये। यो कभी-कभी एक-दो दिन के लिए मिल लेने के अलावा हम लोगो मे जब-तव पत्राचार भी हो जाता है। जव तक 'समय दो' निकलती रही, सेठ वरावर मुझे सहयोग देता रहा—यह दूसरी वात है कि उस सहयोग से मेरी अपेक्षा उसे ही ज्यादा लाभ था। वात यह है कि इधर कविता के क्षेत्र मे सेठ की ख्याति धीरे-धीरे काफी कम हो गई है। आलोचको का विचार है कि हिन्दी के अधिकांश लेखको की तरह सेठ अपने कवि-व्यक्तित्व को सही विकास के रास्ते पर नही डाल सका। जव उसने लिखना शुरू किया था तो उसकी टेकनीक वडी नई जान पडती थी; आज यह टेकनीक सैकडो लेखनियो की रगडघिस और आवृत्ति का विषय वनकर वहुत-कुछ वासी पड गई है। सेठ मे ऐव यह है कि वह आज भी अपने पुराने शिल्प को वड़ी श्रद्धा के साथ दोहराता चला जाता है।

लेकिन उन दिनों जब सेठ वनारस मे नया-नया पहुँचा था, नगर के नवयुवक साहित्यिकों के बीच उसकी कविताएँ और उनका रचनातन्त्र काफी विवाद और चर्चा का विषय वन गया था। हम लोग जिनमे से कुछ लिखना शुरू कर चुके थे और कुछ शुरू करने का हौसला रखते थे, सेठ के व्यक्तित्व मे एक आकर्पक व समझदार नेता और पथप्रदर्शक पाकर नये उत्साह का अनुभव कर रहे थे।

जहाँ तक मेरा सवाल है, यह ठीक है कि मेरी सेठ के कवि-व्यक्तित्व मे दिलचस्पी हुई थी, लेकिन मेरी ज्यादा गहरी दिलचस्पी उसके कला,

साहित्य और जीवन-सम्बन्धी विचारों में थी। इन्ही क्षेत्रों मे मैं उससे विशेष प्रभावित भी हुआ। इधर जबकि कविता के क्षेत्र मे सेठ का प्रभाव कम होता गया है, कला और साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र मे मेरा प्रभाव—जैसा कि हम दोनो को जानने वाले दोस्तों का खयाल है—सेठ से आगे बढ गया है। लेकिन जहाँ तक ज़िन्दगी के व्यावहारिक पहलुओ का ताल्लुक है—यानी नये युगोचित जीवन-दर्शन को व्यवहार में बरतने और लागू करने का प्रश्न —वहाँ मैं अब भी सेठ को पथप्रदर्शक के रूप में देखता और मानता हूँ। इस दृष्टि से सेठ एक तरह से मेरा दीक्षागुरु रहा है और आज भी सम्पर्क होने पर मैं उससे नई प्रेरणाएँ ले पाता हूँ।

सेठ ने मुझे विचारों के नये क्षितिजो से परिचित कराया; उन्ही दिनों हमारी नयी महाराजिन शोभा ने जैसा कि मैंने सकेत किया था, मेरी नयी मूल्य-सवेदना को व्यावहारिक धरातल पर शक्ल इख्तियार करने का मौका दिया।

शोभा और सहदेव शुरू में हमारे यहाँ सुखदेई नाइन के साथ आये थे; बताया गया था कि वे लोग भले घरानों के है और दुर्भाग्य से खराब परि-स्थितियो का शिकार हो गये है। सहदेव बस्ती जिले का रहने वाला था और मशीनो का काम जानता था। धीरे-धीरे ज्ञात हुआ कि वह अपने ज़िले के कुछ लोगों का कर्ज़दार भी है। पिताजी की सिफारिश से सहदेव को मुगलसराय की एक फैक्टरी मे जगह मिल गई। शोभा और वह हमारे घर से लगभग मील-भर की दूरी पर एक किराये के मकान मे रहते थे। सुबह सात बजे आकर शोभा बारह-एक बजे तक हमारे यहाँ रहती, फिर तीन घटों के लिए कभी अपने घर और कभी सुखदेई के यहाँ चली जाती। रात को आठ-साढ़े आठ बजे सहदेव, जो छ: बजे तक अपने काम से वापस आ जाता था, शोभा को घर लिवा जाता।

सहदेव अपने को इज्ज़तदार आदमी मानता था; फैक्टरी में वह सत्तर-पचहत्तर रुपये वेतन और कुछ महँगाई पा रहा था।

नौकरी लगने के कुछ ही दिन बाद सहदेव ने मुझे चाय का निमन्त्रण दिया और मैंने माँ की स्पष्ट अनुमति से उसे स्वीकार कर लिया। रविवार के दिन लगभग पांच बजे मैं सहदेव के घर पहुँच गया।

शोभा ने चाय वहुत यत्न से वनाई। छोटे किन्तु पक्के मकान में एक कमरा वाहर था एक भीतर, वीच मे छोटा-सा आँगन। वाहरी कमरे के पास सँकरी-सी गैलरी, वही पाखाना और नहाने की जगह। आँगन के पास एक ओर रसोई। सहदेव ने आँगन मे रखकर अँगीठी जलाई। मैं वाहर के कमरे मे वैठा था जो आँगन मे खुलता था। शोभा कभी इधर कभी उधर जाती, वीच-वीच मे सहदेव से तल्ख-तुर्श वोल लेती। चलते-वतियाते वह कभी-कभी मेरी दिशा मे देख लेती। चाय का पानी चढाकर उसने सहदेव को पास की दूकान से मिठाई-नमकीन लेने भेज दिया। उस वीच मे अँगीठी धूपते हुए उसने एक-दो वार कनखियों से मेरी ओर देखा। कहने की जरूरत नही कि मेरी नज़र उसी ओर थी। एक वार वह उठकर आई और मेरे पास पड़ी गन्दी-सी छोटी मेज़ पर एक नीला कपड़ा डाल गई।

सहदेव ने चाय तैयार की, प्लेट और प्याला उठाकर शोभा लाई। घर मे भी वह नाश्ता देने मेरे कमरे मे आती थी—मैं कभी पिताजी के साथ नाश्ता नही करता था। दूसरी तश्तरी मे सहदेव चार छोटे वूंदी के लड्डू और चार समोसे रखकर लाया।

'यह वहुत है,' मैंने तश्तरी देखकर कहा।

'वहुत नही है वावू, खाइए,' सहदेव ने कहा। किन्तु मैंने खाना शुरू नही किया। शोभा एक कटोरा लेकर आई और उसने मेरे सकेत से सामान आधा कर दिया। 'वावू इतना नही खाएँगे, हमने पहले ही कहा था,' वह वोली।

उस दिन मैंने महसूस किया कि मेरे और शोभा के बीच कुछ निकटता हो गई।

मझोला कद, स्वस्थ गुदकारा जिस्म, कुछ मासल गोल-सा चेहरा, सँकरा माथा और घने वाल। शोभा की आँखें कुछ वडी, नाक छोटी-सी और होठ फैले और भरे हुए थे। कुल मिलाकर वह आकर्षक लगती। भीतर से जैसा कि मैंने धीरे-धीरे जाना, वह तीखी, सवेगशील और अस्थिर मनोवृत्ति की थी।

हमारा वनारस वाला घर दोमज़िला है। नीचे वाहर की ओर एक छोटा-सा ड्राइग रूम या वैठकखाना है, अन्दर आंगन और तीन कोठरियाँ,

जिनमें से दो में घरेलू सामान भरा रहता था। मेरा अध्ययन-कक्ष ड्राइंग रूम के ऊपर था, माँ का कमरा उसके दाहिनी ओर और रसोईघर सामने उसकी विपरीत दिशा मे। मेरे कमरे के बाईं ओर का कमरा अक्सर बन्द पड़ा रहता, और जीजी के आने पर उनके काम आता। कमरों के आगे आँगन को चारों ओर से अशतः पाटता छज्जा है, जो लोहे के जालीदार बारजे से घिरा है।

अगले दिन जब शोभा नाश्ता लेकर आई तो मैंने उसे अर्थपूर्ण मुस्कराहट से देखा, वह नज़र नीची करके चली गई। कुछ देर बाद फिर वह चाय का प्याला लेकर आई, वह प्लेट और प्याला मेज पर रखना चाह रही थी, पर मैंने बीच ही मे उन्हें उसके हाथ से ले लिया, इस तरह कि मेरा हाथ उसकी उँगलियों और हाथ की पीठ को छू ले। उसने कुछ कहा नही, चुपचाप चली गई। अगले दिन मैंने उसकी एक उँगली को अपनी उँगलियो के बीच दबा दिया, उसने किसी तरह की प्रतिक्रिया नही की, पहले की भाँति चुपचाप चली गई।

नाश्ते के वक्त अक्सर माँ रसोईघर में रहतीं, नाश्ता वे अपने सामने ही भिजवाती। पिताजी नीचे नाश्ता करते और मैं ऊपर। इसके बाद माँ नहाने चली जाती। नहाकर वे कुछ देर पूजा करती, फिर नाश्ते के नाम पर एक गिलास दूध भर ले लेती। पिताजी भी दूध ही लेते थे, चाय की ज़रूरत सिर्फ मुझे ही होती—या फिर कभी जीजी को जब कभी वे आई होती। जीजी के बच्चे भी चाय पीना चाहते, इससे पिताजी बहुत ज्यादा चिढ़ते। बच्चो की ऐसी खराब आदतों के लिए वे मुख्यत. मुझे दोषी ठहराते। वे खुद कभी-कभी ऑफ़िस में ही चाय पीते, या फिर आये मेहमानों का साथ देने के लिए।

मेरे कमरे मे आने के लिए शोभा ज्यादातर मेरे कमरे के उस दरवाजे से आती जो बगल वाले छज्जे के सामने पडता था। यह दरवाज़ा ठीक रसोईघर के सामने था। मेरे कमरे का दूसरा दरवाज़ा स्नानघर के सामने पड़ता था। उसमे परदा टँगा रहता।

गली की दिशा मे भी कमरे के बीच मे एक दरवाज़ा था, जो उधर के छज्जे पर खुलता था, वहाँ भी परदा पड़ा रहता था। शोभा के नाश्ता लाने

के समय मै विशेष सावधानी वरतने लगा। मैं कोशिश करता कि दोनों दरवाजो के बीच परदे पूरे फैले पडे रहे, ताकि बाहर से उनमे कोई झांक न सके। कई दिन हाथ छूने पर शोभा ने जब कोई एतराज नही किया, तो मेरा साहस बढा। एक दिन मैने धीरे से उसके गाल पर उँगलियो के सिरों से छू दिया। वह सकपकाई, और तेजी से आगे वाले दरवाजे से बाहर हो गई। मुझे घबराहट हुई, कही कम्बख्त माँ से शिकायत न कर दे। काफी देर तक मैं बडे तनाव और परेशानी की स्थिति मे रहा। माँ अभी नहाने नही गई थी, मुझे लगा कि वे किसी विशेष कारण से देर लगा रही है। पता नही शोभा और वे क्या-क्या बाते कर रही थी। मैं मन-ही-मन ईश्वर से प्रार्थना कर रहा था कि किसी तरह आज का दिन बिना किसी दुर्घटना के बीत जाए। थोडी देर बाद माँ नहानघर मे घुसी, अपनी धडकनो पर काबू पाते हुए मैंने क्रमश: सकून और निश्चिन्तता की साँस ली।

एक दिन माँ के स्नानघर मे घुस जाने के बाद मैंने शोभा को इशारे से अपने पास बुलाया। कुछ आशकित और डरी-सी, ऐसे भाव से जैसे वह कोई दु:साहस करने जा रही हो, वह धीरे-धीरे आकर सिरे वाले दरवाजे मे खडी हो गई। मैंने धीरे से किवाड़ भेड़ दिया और उसके चेहरे को हाथों के बीच मे लेकर बहुत हलके से उसे चूम लिया।

"यह ठीक नही है बाबू, हम काम छोडकर चले जाएँगे, हाँ," शोभा मन्द स्वर मे बुदबुदायी। बोलने में शोभा के सफेद दाँतों की कतार बडे आकर्षक ढग से चमक रही थी, उसके होठ भी विशेष भले लग रहे थे। उसके प्रतिवाद से मुझे डर लगा। फिर भी मैंने उसे एक बार चूमा, यह चूमना पहले के स्पर्श से ज्यादा तीव्र था। फिर दूर हटते हुए कहा, "अच्छा माफ करना, लेकिन तू मुझे बहुत अच्छी लगती है। यह···यह रख लेना और देख गुस्से न होना, किसी से कहना भी नही।" शोभा ने दस रुपये का नोट अपने हाथ मे ले लिया और तेजी से रसोई की ओर चली गयी।

उसके बाद शोभा मेरी नियमित प्रेमिका (?) बन गई। शुरू मे मैने सोचा था कि शोभा को चूमना एक बहुत बडी घटना होगी—रहस्यमय रूप मे महत्त्वपूर्ण और तृप्ति देने वाली। पर वैसा कुछ लगा नही। पहले दिन उसे चूमने के बाद मैं बहुत देर तक उत्तेजित रिक्तता-सी महसूस करता रहा था—

जैसे मैं कुछ पा नही सका था। यह उत्तेजना और रिक्तता की अनुभूति सारे दिन मेरे साथ रही। सरोज के साथ मे भी कुछ ऐसा अनुभव हुआ था। वाद की जिन्दगी मे भी—और यह कुछ अजीव वात है—हरेक वैसे नये सम्वन्ध के साथ उस अनुभव की दुहराहट होती रही है। आप एक खूवसूरत चेहरे को देखते हैं और वेहद आकर्षक होठों को, और सोचते है कि उन होठों को छू लेना आपके जीवन की एक वडी घटना और वडी उपलब्धि होगी। आप उसके लिए कोशिश करते है, वल्कि कोशिशे। इन कोशिशो मे आप काफी समय, काफी वुद्धि और काफी पैसा भी खर्च करते है और वाद मे, अगर आप खुशकिस्मत है तो, शायद सफल भी हो जाते है। और तव, तथाकथित सफलता के संक्षिप्त क्षणो मे और उसके वाद, आप जब सब चीजो का हिसाव लगाते है तो पाते है कि आप, न जाने क्यों, अपने को वचित या ठगा-सा महसूस कर रहे है।

शोभा के साथ मुझे और भी तरह-तरह के अनुभव हुए। लगभग एक हफ्ते तक मेरी स्थिति उत्सुक, प्रतीक्षा और प्राप्ति के दो छोरों के वीच डोलते हुए पेण्डुलम-सी रही। मै शोभा के करीव आने व पहुँचने के मौको का इन्तजार करता और फिर उसे अधीरज से एक-दो-चार वार चूम लेता। मैं चूमने के नये-नये तरीके निकालता और शोभा मुझसे शिक्षा लेती-सी मेरे साथ-साथ उन तरीकों की आवृत्ति करती। मैं न सिर्फ उपयुक्त अवसरों की प्रतीक्षा करता, वल्कि यह कोशिश भी करता कि वैसे अवसरों की सख्या बढाई जा सके। खासकर सुवह के समय मे, नाश्ते के वक्त शोभा का चुम्वन लेने के पूर्व, मैं अपना मन अध्ययन मे नही लगा पाता। लगता जैसे उसके मुख के स्पर्श का चारा मेरी वाकी दिनचर्या की निर्वाध प्रगति की आवश्यक शर्त हो।

कुछ दिनों वाद वैसी अनुभूति खत्म होने लगी। शोभा को कभी-कभी चूम लेना अव मेरी रुटीन का हिस्सा वन गया। शुरू-शुरू मे शोभा उस क्रिया मे रस लेती जान पडती थी, अव लगता कि उसके लिए भी यह एक रुटीन जैसा वन गया था। शुरू मे चूमते हुए मैं कभी-कभी उससे कहता, 'जरा मुस्करा तो,' और शोभा की सुघर दाँतो की कतार खिल जाती। उसकी चमकीली सफेदी को होठो और जीभ से छूने की कोशिश करते हुए मैं खास

तरह के सुख-सन्तोष का अनुभव करता। इधर यह मनोभाव धीरे-धीरे गायब होने लगा था। कभी-कभी जान पड़ता कि शोभा एक अनजाने भय से सिमटी-सिकुडी-सी रहती है, मुझे भी कभी-कभी अजीब-सी आशका और भय का अहसास होता।

धीरे-धीरे मुझे लगा कि मेरे और शोभा के उस रुटीन-सम्बन्ध मे से उत्सुकता और खुशी की वृत्तियां थोडी-थोड़ी करके लुप्त होती जा रही हैं। यान्त्रिक रुटीन के रूप में मुझे चुम्बन देती हुई शोभा, अपनी हिचक और डर की भावनाओं के क़ारण, कभी-कभी एकदम बेरौनक और भोंडी भी दिखाई पड़ती। फिर भी मैं उसके उस दान को लेने से बाज़ न आता। सच यह कि अब मैं अपने और शोभा के इस सम्बन्ध को एक साहसिक कृत्य के रूप में लेने लगा था—जैसे वह मेरी रूढिमुक्तता और बहादुरी का सबूत हो। पहले मैंने उसके बारे मे सेठ के सामने एकदम ही किसी तरह का जिक्र नही किया था—वैसा इरादा भी नही किया था; लेकिन अब धीरे-धीरे बातचीत मे मैं उसके सकेत छोडने लगा। शीघ्र ही मैंने पाया कि सेठ इन सकेतों को खास महत्त्व नही देता। सच यह कि सेठ को मुख्यतः अपने बारे मे बात करना पसन्द था, उसमे इतना धैर्य न था कि वह मेरी या किसी दूसरे की निजी बात को ध्यान से सुने। उसे शायद मेरा और शोभा का 'एफेयर' अविश्वसनीय भी लगा था, या फिर अतिरजनापूर्ण।

कुछ दिनों बाद, दुर्गापूजा के मौके पर, जीजी अपनी ससुराल से हमारे पास आ गईं। उनके साथ उनके दो बच्चे अंजू और अमलू भी थे। अब मुझे शोभा से मिलने मे विशेष अडचन होने लगी। अक्सर जीजी खुद ही नाश्ता लेकर मेरे कमरे में आ जाती। यों भी कभी अजू, कभी अमलू और कभी दोनो खास तौर से नाश्ते के वक्त मेरे कमरे मे मँडराते रहते। जीजी के डाँटने-डपटने पर भी वे लोग रसोईघर मे न टिकते और नाश्ते का सामान हाथ मे लिए, नाचते-थिरकते, सीधे मामा के कमरे मे आ जाते।

यह नही कि ये बच्चे मुझे प्यारे नही लगते थे, फिर भी...एक दिन माँ और जीजी दोनो बच्चो के साथ रिश्तेदारी मे जाने वाली थी। मुझे उनके कार्यक्रम का पता था, मैं विश्वविद्यालय से जल्दी ही वापस आ गया। शोभा के आने का वक्त हो रहा था, मैं विशेष उत्तेजित था। बहुत दिनो से मैं उसे

चूम नही सका था, इसलिए और भी परेशान था। ऊपर के वदले में ड्राइग रूम मे पहुँच गया और आगे-पीछे घूमता शोभा के आने का इन्तजार करने लगा। लगभग चार वजे शोभा आई, शीघ्र ही उसने स्थिति भाँप ली। वह घवराई और डरी-सी महसूस कर रही थी। मैने उसे अधीरज से बाँहो में भर लिया और उसे वेतहाशा चूमने लगा।

उस वक्त मुझे उसके चेहरे या आँखों या होंठों मे किसी तरह का मोहक आकर्षण दिखाई नही पड़ रहा था। मेरी नजर मे वह सिर्फ एक औरत थी, एक तरह की भोग्य वस्तु। उसके वदले कोई दूसरी औरत भी हो सकती थी। उसके जिस्म के विभिन्न हिस्सो को छूने की मेरी उत्तेजित क्रियाएँ कुछ वैसा ही अर्थ रखती थी जैसा कि अरसे से भूखे व्यक्ति की खाद्य सामग्री से सम्वन्धित क्रियाएँ।

कुछ देर वाद मैंने बाकायदा उसे लेने की कोशिश की, पर मैं सफल न हो सका। वाहर से भीतर तक मेरा मन एक अजीब-सी खीझ, पश्चात्ताप और ग्लानि से भर गया।

× × ×

प्रभा जीजी का स्वभाव एक बात में पिताजी से मिलता है: वे हुकूमत-पसन्द हैं। पिताजी की शासनप्रियता मुख्यतः उनके और हम लोगों के सम्वन्ध में ज़ाहिर होती थी—वे अपनी औलाद के विशेप शुभचिन्तक रहे हैं न! जीजी भी वच्चों को नियन्त्रण मे रखने की कायल है। इसके अलावा, वचपन से ही वे नौकरों और चपरासियों पर हुक्म चलाने की आदी रही हैं। जव हम छोटे थे तो घर में, महरी और रसोईदारिन के अलावा, एक नौकर जरूर रहता था—अक्सर कोई लडका, जो वच्चो को यानी जीजी को और वाद में मुझे—रख भी सके। मुझे अच्छी तरह याद है, मेरी देखरेख के लिए नियुक्त पहाड़ी लड़के रामसिह पर जीजी वहुत हुक्म चलाती थी। इस पर मैं कभी कभी उनसे झगड़ता था—आखिर रामसिह मेरा नौकर था, उनका नही। लेकिन जीजी मेरे इस दावे को बिल्कुल ही स्वीकार नही करती थी। कहने को मुझसे दो-तीन साल ही वडी हैं, पर व्यवहार ऐसा करती रही हैं जैसे मैं उनके सामने विल्कुल ही वच्चा होऊँ।

उनका आना था कि शोभा पर आफ़त आई। जीजी कड़ी शासक तो

हैं ही, वह डटकर काम लेने में भी विश्वास रखती हैं। मालिक और नौकरों के सम्बन्ध को लेकर उनकी कुछ निश्चित धारणाएँ है—जैसे नौकरों को ज्यादा मुँह नही लगाना चाहिए, उनसे शुरू मे ही सब काम ठहरा लेना चाहिए और फिर कड़ाई से, बिना अपवाद के, वह सारा काम करवाना चाहिए। आज अगर किसी काम मे ढिलाई सही जाएगी—ऐसा उनका खयाल है—तो कल नौकर उस काम को कर्तव्य मानने से इनकार करने लगेगा, वगैरह-वगैरह। नौकरो के मसले को लेकर मैंने एक-दो बार जीजी से तर्क करने की कोशिश की है—यह कि अब ज़माना बदल गया है, कि अब डिमॉक्रेसी यानी जनतन्त्र का युग है, कि अब नौकर सिर्फ पेट पालना नहीं, ठीक तौर से जीना चाहते है, कि यूरोप और अमेरिका में तो मेड-सरवेन्ट बर्तन साफ करने और रसोई मे थोडी-बहुत मदद कर देने का सौ-डेढ-सौ डालर तक चार्ज कर लेती है···लेकिन जीजी यह सब सुनना पसन्द नही करती।

'अभी अपना देश इतना नही बदला है कि···और फिर यह अमेरिका और इगलैण्ड नही है।' और दूसरी बात न बन सकने पर, 'तुम चुप रहो भइया, तुम हमारी बात मे दखल देने वाले कौन होते हो?' न जाने क्यों जीजी और मुझमे कभी भी बन नही सकी, किसी न किसी बात पर बहस-मुबाहसा और फिर झगड़ा। कभी-कभी बहुत ज्यादा गुस्सा करके कहती है: जब तक पिता जी है और माँ है, तभी तक मैं इस घर मे आती हूँ, तुम्हारे घर मे तो मैं कभी फटकूँगी भी नहीं। कहते-कहते जीजी फूलकर बैठ जाती है और मुझे माँ की डाँट खानी पड जाती है और मैं—मैं कोई उतना कठोर थोडे ही हूँ, आखिर जीजी मेरी जीजी है। जहाँ तक बच्चो का सवाल है, वह निश्चित ही मुझे ज्यादा समझते और मानते भी है। सच्चे स्नेह और प्यार की पहचान जैसी बच्चो को होती है वैसी बडों को नही। इस बात को जीजी भी समझती है फिर भी···। कभी-कभी मुझ से झगडा करने के बाद, जीजी रुआँसी हो आती है और मै, उस मौके को टालने के लिए, पैण्ट-कमीज़ डाँटकर घर से बाहर निकल जाता हूँ। लौटने पर पाता हूँ कि जीजी मेरी विशेष चिन्ता और खातिर कर रही है।

शोभा इधर बहुत काम करती है फिर भी जीजी को खुश नही रख

पाती। दिन मे दो-चार वार उसे उनकी डाँट सुननी ही पड़ जाती है। 'शोभा बच्चों को ठीक से नहलाना नही जानती, और कपड़े तो साफ धोती ही नही। ढेर-सा सावुन घोल लेगी और फिर सहलाएगी; रगड़ेगी नहीं, कही हाथों की मेहदी न छूट जाए।'

एक दिन शोभा मेरे पास से गुज़री। सुनाकर कहा, 'इतना काम करती हूँ, तो भी जीजी हमे बहुत बोलती हैं, हम नौकरी छोड़ देगे, हाँ।'

मैं ऐसी स्थिति में नही कि उसे समझा सकूँ या सान्त्वना दे सकूँ। 'हाँ शोभा तुम्हें बहुत काम करना पड़ता है; पर यह थोड़े ही दिनों की वात है,' मैंने कहा।

एक दिन शोभा नहीं आई, घर में तहलका मच गया। आखिर इतना काम कौन सभाले? दूसरे दिन भी वह नहीं आई। जीजी ने अनुनय के स्वर में कहा, 'निगम भइया, तुमने तो घर देखा है; ज़रा मालूम करो कि शोभा क्यों नही आई।'

मालूम हुआ कि शोभा वीमार है, उसे बुखार आ गया था।

लगता है जैसे यह एक संयोग था, सुखद संयोग। शोभा का वीमार पड़ना और दो दिन काम से गैरहाजिर रहना, तीसरे दिन मेरा उसका हालचाल लेने पहुँचना, उसके द्वारा सहदेव की अपनी प्रति लापरवाही की शिकायत और मेरी दवा जुटाने के रूप मे मदद, वगैरह-वगैरह।

ऐसी स्थिति मे यह स्वाभाविक था कि शोभा मेरे प्रति विशेष कृतज्ञता महसूस करे। मैंने इस स्थिति और अपनी व उसकी पुरानी निकटता का फायदा उठाया। एक दिन मध्य नवम्वर के तीसरे पहर के सन्नाटे में शोभा को मैं उस रूप में पा सका जिसके लिए मै बेहद परेशान था।

शोभा धीरे-धीरे ठीक हो गई, पर वह दोबारा काम पर नही आई। मैंने लाख समझाया, आगे-पीछे का वास्ता दिया, लेकिन बेसूद। शोभा के अन्दाज मे एक अजीव-सी वेरुखाई थी जो मेरी समझ के परे थी। जाहिर ही उसे मुझसे या किसी से कोई लगाव न था। उसकी हठ अटल थी। कुछ दिनों वाद सहदेव ने मुग़लसराय में ही कही मकान खोज लिया और शोभा को वही ले गया।

× × ×

आज कॉफी हाउस मे अजय कुछ हल्के मूड मे था। उसमें यह मूड काफी दिनो बाद देखा गया। मदन मौजूद था, और कुछ दूसरे दोस्त भी। मदन इधर इतिहास की व्याख्या मे ज्यादा दिलचस्पी लेने लगा है; इसे लेकर मैं अक्सर उसका मजाक उड़ा लेता हूँ। कभी-कभी संजीदगी से कहता हूँ: डॉक्टर मदन, जरा बतलाओ इधर इतिहास की कुंडली क्या संकेत दे रही है? चीन और हिन्दुस्तान के इस लम्बे झगड़े का क्या हल होगा? कभी, कुछ हल्के मूड मे, शिकायत करता हूँ: प्रोफेसर मदन, तुम इतिहास के बारे मे इतना कुछ सोचते और बतलाते हो, पर कभी गरीब निगम के भविष्य पर कोई राय जाहिर नही करते। भला बतलाओ तो इतिहास की शक्तियाँ कब तक मुझे डॉक्टर की उपाधि से विभूषित कर सकेंगी, दूसरे रजिस्ट्रेशन के बाद के सात बरस पूरे होने मे अब साल-डेढ़-साल की ही कसर रह गई है, वगैरह-वगैरह। यह नही कि अजय डॉ० मदन की मान्यताओं से सहमत हो, फिर भी वह अक्सर उसी का पक्ष लेने की कोशिश करता है। आज अजय ने जरा विनोद से कहा—तुम कहते हो न कि इतिहास की प्रवृत्ति वैज्ञानिक तटस्थता और वस्तुनिष्ठता की ओर है—इसके मानी है कि मनुष्य के इतिहास की व्याख्या सभव है और यह युग और उसके प्रतिनिधि तुम, यानी श्रीमान् निगम, एकदम रहस्य नही हो। मैंने सुनकर हँस दिया। कहा: तो डॉ० मदन सचमुच मेरी व्याख्या करने पर तुले हुए है? उन्हे और काम ही क्या है! लेकिन आप लोग जानते है कि मेरे बारे मे मेरी एक बड़ी प्रतिभाशालिनी दोस्त ने हाल ही मे क्या कहा है—यह कि लोगो को मुझसे सावधान रहना चाहिए, क्योंकि मैं भरोसा करने लायक नही हूँ।

मैंने सोचा था कि मेरे उस तरह के सकेत से वातावरण मे रहस्यावृत कुतूहल का भाव जागेगा, पर वैसा हुआ नही। अजय एकाएक गभीर हो गया, और एक दूसरे दोस्त ने, ऐसे भाव से जैसे उसके लिए वैसा सकेत कोई नयापन नही रखता, अर्धविश्वास के भाव से हँस दिया। उसके हँसने पर मुझे अपनी गलती महसूस हुई। बीसवीं सदी मे अगर कोई महिला किसी पुरुष को भरोसे के लायक नही समझती तो इसमे ताज्जुब की गुजायश कहाँ है? ताज्जुब तो उस व्यक्ति के व्यवहार पर होना चाहिए, जो

आज के युग में रहते हुए भी, इतना जड़ और असंवेदनशील है कि प्रतिक्षण बदलने वाली दुनिया उसके चरित्र को अप्रभावित छोड़ देती है।

मैं ने सचमुच ही श्रीमती मुकर्जी के उस वक्तव्य को कॉम्प्लीमेन्ट (प्रशस्ति) के रूप में लिया था—बुरा मानने का तो सवाल ही नही था। श्रीमती मुकर्जी का खयाल है कि उनकी ज़िन्दगी कई अनमेल तत्त्वों के संयोग से तिक्त और तीखी हो गई है। उनकी रुचि है कला और अध्यात्म में (जैसा कि उनका खयाल है) और उन्हें एम० ए० में विपय दिलाया गया इतिहास—क्योंकि उनके पिता इतिहास के वडे पंडित थे; और उनका विवाह हुआ एक अर्थशास्त्री से, जो हाल ही मे दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रोफेसर वनकर गये है, और दिल्ली मे ही रहते है। और अव इतने योग्य होने के वावजूद—उनका पी-एच० डी० का प्रवन्ध प्रकाशित और प्रशंसित हुआ है—वे एक साधारण डिग्री कालेज मे विभागाध्यक्ष वनकर पड़ी है।

श्रीमती मुकर्जी कुछ साँवली भले हों, पर उनका चेहरा आकर्पक है। एक ही कमी दीखती है, वह भी करीब होने पर, उनकी आँखो में एक तरह की रूखी चमक है—यानी स्निग्धता का अभाव-सा। वे आँखे, शायद, उनके महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति की व्यावहारिकता को प्रतिफलित करने लगी है।

मेरी उनसे पहली उल्लेखनीय भेंट हुई अरविन्द सोसायटी की एक बैठक मे; श्रीमती मुकर्जी उस सोसायटी की मंत्री हैं। उससे पहले मैं सोसायटी के उद्घाटन के मौके पर गया था। क्यो गया था, इसका उत्तर देने को मैं वाध्य नही हूँ। कुछ लोग, विशेपकर वगाली लोग, अरविन्द को करीव-करीव मसीहा समझते है, और अपना 'राष्ट्रीय' या 'जातीय' दार्शनिक, और न जाने क्या-क्या। दर्शन के कुछ पंडित, अरविन्द के महत्त्व-स्थापन को अपना राष्ट्रीय या जातीय कर्तव्य मानते हैं—और शायद अपने को महत्त्वपूर्ण दिखाने का अचूक साधन। मुझे इस सवसे कोई सरोकार नही। हो भी क्यों? मुझमें न कभी सुपरमैन वनने या सुपरमाइण्ड विकसित करने की महत्त्वाकांक्षा रही, न किसी तरह की मुक्ति पाने की। जी नही, मैं न अपने से मुक्ति चाहता हूँ न अपने युग से; मैं तो अरविन्द-सोसायटी मे सिर्फ इसलिए गया था कि मुझे किसी तरह श्रीमती मुकर्जी से वातचीत का मौका मिल सके।

यो आप यकीन मानें, मैं ढोंग या दिखावे को पसन्द नही करता—विशेषत: नैतिकता के क्षेत्र मे। मुझे वे लोग, जो अपने लिए असाधारण नैतिक क्षमता और सिद्धि का दावा करते है, एकदम ही सह्य नही जान पड़ते। लेकिन यहाँ भी, दूसरे क्षेत्रों की भांति, मैं महिलाओ का अपवाद करने के पक्ष मे हूं। महिलाओ के लिए, मेरे आचार-कोप के अनुसार, सात खून माफ—विशेपत: उनके लिए जो आकर्पक हैं। तो श्रीमती मुकर्जी ने वड़ी प्रकट श्रद्धा और सजीदगी से, अपनी आंखों को अधमुंदी और मुद्रा को भाव-तरल व गभीर रखते हुए, अरविन्द-ग्रन्थावली के एक अश का पाठ किया। लोग प्रभावित हुए। ऐसे मौको पर, जैसी कि आप आशा करते हैं, मैं चूकता नही। मैंने श्रीमती मुकर्जी के पाठ की विशेप प्रशसा की, और ज़ाहिर किया कि उससे मुझ जैसा नास्तिक भी प्रभावित हुए विना न रह सका। यह प्रत्याशित ही था कि श्रीमती मुकर्जी मेरी प्रशंसा-भावना से प्रसन्न हों।

वे मुझे कार मे साथ अपने वँगले पर ले गई। सोसायटी की गोष्ठी के वाद प्रसाद-वितरण हुआ था। आपको आश्चर्य हो सकता है—लेकिन अविश्वास करना अनुचित ही नही, मेरे प्रति अन्याय भी होगा—कि उसी दिन, श्रीमती मुकर्जी के ड्राइग-रूम में, मुझे उनके दांतो से खडित मिठाई का टुकडा पाने का सौभाग्य मिल सका। यह दूसरी वात है कि वह मिठाई खुद मेरे हिस्से की थी।

तीसरा विज़िट। चलते वक्त मेरी श्रीमती मुकर्जी से कुछ आज़ादी बरतने की कोशिश, उनका चालाकी से दूसरे कमरे मे चले जाना। लम्वा अन्तराल, मेरी बुलाहट; कुछ ज्यादा मृदुता—लेकिन एक ऐसे व्यक्तित्व द्वारा प्रकट की गई मृदुता जो उसका अनभ्यस्त हो चुका है। और तव मुझे एकाएक अहसास हुआ कि श्रीमती मुकर्जी उम्र मे मुझसे दो-चार साल बड़ी हैं।

आप कहेगे—तुम्हारी भी अजीव रुचि है। इस वारे मे मैं उर्दू के एक महान् शायर की नीति का कायल हूँ: हमने माना कि कुछ नही गालिव, मुफ्त हाथ आये तो बुरा क्या है। आप कहेगे यह कोई वढिया विजय नही हुई—जूठी उँगली को चूमकर उसे फिर पहले होठो तक पहुँचा देना।

लेकिन उद्दिष्ट हार-जीत नहीं है, अनुभव है—यानी बहते हुए यथार्थ का सम्पर्क। क्या मैं पूछ सकता हूँ, जिन्दगी यदि यह नही तो क्या है? जिसे हम यथार्थ कहते है, वह निरन्तर भाग रहा है, छूते-छूते अनुभव की पकड़ से फिसल रहा है। ठीक है, अनुभव का यंत्र, यानी मैं, खुद भी स्थिर नहीं हूँ। देखते-देखते मध्य तीसियों में पहुँच गया हूँ। कोई ठिकाना नही, न शादी का, न इज्ज़तदार गृहस्थ की स्थिति का। आप समझते है यह कोई दु:ख की बात है? या मुझे इसका कोई अफ़सोस है? आप सचमुच बड़े भोले हैं। असल मे आप उस प्रवाह को समझने के लायक ही नही है, जिसे ज़िन्दगी कहते है। जी हाँ, ज़िन्दगी निरन्तर प्रवाह है। यानी परिवर्तन। कुछ लोग इसे ही इनकलाब कहते हैं—लगातार घटित होने वाली क्रान्ति। हमे अपने को इस क्रान्ति का अभ्यस्त बनाना चाहिए; यही ज़िन्दगी और यथार्थ का एड्जस्टमेंट है, पारस्परिक समायोजन। यदि पहाड़ मुहम्मद के पास नही आता, तो मुहम्मद को चाहिए कि खुद चलकर पहाड़ के पास पहुँच जाएँ। यथार्थ जैसा है वैसा है, हमारे अनुकूल बदलकर वह हमें उपकृत नही करता; इसलिए समझदारी और विवेक इसमे है कि हम उसके अनुकूल बनें—उसके अस्तित्व को सहजता से स्वीकार करे।

श्रीमती मुकर्जी की ही बात लीजिए। उस दिन उनके स्वर में कुछ गीतात्मकता थी; उन्होंने किसी जमाने में कविताएँ भी लिखी थी, बँगला में। उस दिन उन्होने, टीका के साथ, कुछ गीत मुझे सुनाये। जैसा कि आपने अनुमान कर लिया होगा, गीतो मे सस्ते भावुक उद्गार थे। मैंने एक और बात नोट की—वे उद्गार उनकी आँखों की रूखी चमक से एकदम बेमेल थे। मेरा मतलब है इस समय की आँखो से। मुमकिन है वे आँखें पहले ज्यादा कोमल और व्यजक रही हों, ज्यादा आकर्षक। मैं मानता हूँ कि जीवन में घटित होनेवाला इस तरह का इनकलाब या परिवर्तन दर्दनाक है—मैं इस वक्त सोच रहा हूँ कि पन्द्रह-बीस बरस बाद मैं खुद न जाने कितना बदल जाऊँगा। लेकिन इस बेज़ायका प्रसग को मैं यही दबा देता हूँ।

उसके बाद? उसके बाद मैंने पाया कि मुझे श्रीमती मुकर्जी में एकदम ही दिलचस्पी नही रह गई है। और मुझे ताज्जुब हुआ कि कैसे, उस बैठक के दिन, वह मुझे इतनी आकर्षक लगी थी। और वह मिठाई का टुकड़ा

खाने की वात। और अब, उस दिन, श्रीमती मुकर्जी का शिकायत करते हुए, थोडी वक्रता से, और शायद प्रच्छन्न निराशा या व्यंग्य से, यह कहना कि मै भरोसा करने लायक नही हूँ।

आप सवाल कर सकते है कि मैंने श्रीमती मुकर्जी के साथ वैसा व्यवहार क्यों किया। उत्तर मे मेरा निवेदन है: मैंने वह-कुछ हिसाब लगाकर नहीं किया। कहना चाहिए कि यह और वह घटित हुआ—जैसे कि प्रकृति-जगत् में चीजें घटित होती है। वह होती हैं, घटती है, और वस, हम आगे प्रश्न करने नही जाते। इन्सान के साथ एक अतिरिक्त वात यह होती है कि उसमें घटित का आभास भी आ जाता है। आभास, यानी प्रतिविम्व या चेतना। किन्तु इतने भर से तो मनुष्य स्वतत्र और ज़िम्मेदार नही वन जाता। सच पूछिए तो मेरी आज तक समझ मे नही आया कि शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से, मनुष्य की स्वतन्त्रता का क्या अर्थ हो सकता है।

लेकिन मैं जानता हूँ कि आप इस कैफियत से सन्तुष्ट नही होगे। आप यह मानकर चलते है, चलने के आदी है कि मनुष्य की हरकते 'कर्म' होती हैं, जिनका उद्देश्य होता है, और जिनका उसे फल मिलता है—या मिलना चाहिए। आप यह न समझे कि इस मामले मे मैं आपसे भिन्न हूँ; वैसी जिज्ञासा मुझमे भी जागती है। और वह खुद अपने ही कर्मों की अपेक्षा में। मैं स्वयं अक्सर यह सवाल करने लगता हूँ कि मेरी विभिन्न गतियों या क्रियाओं का स्रोत क्या है? कभी-कभी यह जिज्ञासा मुझे बेहद तग कर डालती है। एक दिन, बिजली के कौंधने की तरह, मुझे एकाएक यह आभासित हुआ कि मेरे अस्तित्व की केन्द्रगत प्रेरणा, जो मेरी असख्य क्रियाओं की स्रोत है, मेरी कुतूहलवृत्ति या जिज्ञासा हैं—सब-कुछ समझने-जानने की, चेतना में प्रतिविम्वित करने की, अदम्य आकाक्षा। मैं घटित के हर-एक टुकड़े को, उसके हर-एक कण को, उसकी जटिलता की प्रत्येक पर्त को, साफ-साफ देख लेना चाहता हूँ। मेरे लिए यह देखना ही समझना है। मेरी जिज्ञासा का विषय घटित का बहने वाला रूप ही है, उसके आगे-पीछे जाने की इच्छा मुझे नही होती। मतलब यह कि मेरी कुतूहलवृत्ति विशेष पर केन्द्रित रहती है, परटीक्युलर पर; सामान्य से मुझे लगाव नही है। मैं सामान्य प्रवृत्तियों और कथनों में आस्था नही रखता। जी हाँ, मैं लगातार

था। लेकिन...'

'तुम ठीक कहते हो। सच पूछिए तो विमला उन दिनों और भी ज्यादा खूबसूरत थी जब वह रेडियो में काम करती थी। असल में विमला सुन्दर है, लेकिन डल (वेरोचक व नीरस) है। तुम समझ रहे हो न...एकरस, यानी नीरस। यह चीज मैं शुरू से ही मार्क करता आया हूँ। उसकी बातचीत और व्यवहार में ऐसा कुछ नही है जो कभी-कभी आपको झकझोर दे, आप में तनाव पैदा करे, यानी कि आपकी ज़िंदगी को नई गति और वेग दे।'

कुछ बातें ऐसी होती है, जो सिर्फ संकेत से ही कही और समझी जा सकती हैं, यानी कि जो सीधो भापा का विपय नही होतीं। सेठ के यहाँ से लौटते हुए मैं बराबर उसके वक्तव्य पर विचार करता रहा था। एकाएक होटल के कमरे में दाखिल होने के थोड़ी देर बाद मुझे लगा कि सेठ की बातों का मर्म, बिजली की कौंध की तरह, मेरे सामने साफ चमक गया है। उस समय मुझे जान पड़ा कि मेरी और सेठ की समस्या मे बहुत-कुछ समानता है। हम दोनों ही एक व्यवस्थित और नियमित ढर्रे पर चलने वाली ज़िन्दगी के लायक नही हैं। वैसी ज़िन्दगी अजय और मदन जैसे लोगों को ही माफिक आती है। उन लोगों ने अपने-अपने लिए एक स्थायी लक्ष्य खोज या चुन लिया है, उस लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए वे उस चीज का अनुभव नहीं करते जिसे ऊब कहते है। हम लोगों को ऐसा कोई लक्ष्य दिखाई नही पडता, इसीलिए हमारे सामने ज़िन्दगी की लम्बी अवधि गुज़ारने की समस्या कदम-कदम पर खड़ी होती रहती है। आप शायद यह विश्वास करना पसन्द नही करेंगे कि ज़िन्दगी की प्रक्रिया असुविधाजनक रूप में लम्बी है। वह जितनी लम्बी है, उतनी ही बेमानी भी। ज़िन्दगी का प्रवाह उन्ही मौको पर, कुछ क्षणो के लिए, रोचक बन जाता है, जब उसमें तेज वासना या जरूरत के भँवर घुमड़ने लगते है। आस्था और लक्ष्य द्वारा नियंत्रित—यानी कि व्यवस्थित और नियमित—जीवन, शायद, वैसी घुमड़नों का क्षेत्र नही बनता।

× × ×

सेठ के बँगले से मैं लगभग एक बजे चल दिया था। विदाई के साथ एक तर[illegible]क्तता की भावना। सेठ की कहानी रोचक थी, पर उसकी

मन और कल्पना को उत्तेजित करने वाली विशेषता मानो कहानी के अन्त का आभास होते-होते चूक गई थी। सेठ समझदार व्यक्ति है, और चालाक भी। वह समझदार है, क्योकि अपनी जरूरतों की अवगति रखता है। वह चालाक है, इसलिए तीन साल तक विमला को अपने से अलग रखकर उससे कानूनी विच्छेद हासिल कर लेगा। मुझे लगा कि सेठ और विमला की सक्षिप्त प्रणय और विवाह की कहानी खत्म हो रही है। हो सकता है कि अब मुझे कभी विमला देखने को न मिले। क्या मेरे मन मे यह प्रच्छन्न कामना जग रही है कि दोनों का तलाक होने के बाद मैं विमला से शादी कर लूं ? मैं सोच रहा हूं : उसके बाद अगर कभी सेठ का मोहिनी के साथ मेरे घर पर आना हुआ तो विभिन्न पार्टियों की क्या-क्या प्रतिक्रियाएँ होगी ? इतने दिनो साथ रहने के बाद, एक-दूसरे के गुप्त आकर्पण और आदतो से परिचित रहते हुए, क्या सेठ और विमला आपसी खिचाव महसूस नही करेंगे ? और विमला व मोहिनी का वह विज्ञापित बहनापा ? और मैं विमला से दोबारा पुराना प्रश्न कर बैठूं कि 'तुम्हे मोहिनी से डर तो नही लगता ?' तो ? (अफसोस की बात है कि अपने देश मे तलाक और उससे पैदा होने वाली जटिल स्थितियां देखने को मिलती ही नही, जिससे मानव-स्वभाव की गैरमामूली जटिलताओं का परिचय हो सके।)

विमला के जिस्म की गठन मुझे पसन्द है, उसका चेहरा-मोहरा भी आकर्पक है, लेकिन···छि: उसे और मुझे दोनो को जानने वाले दोस्त क्या सोचेंगे ? जिसे सेठ ने परित्यक्त करने योग्य समझा उसे···

आगरे का बाजार। अजीब-से बेगानेपन का अहसास। बाजार और दुनिया, दुनिया और बाजार। दूकानें, तरह-तरह का सामान। दूकानें, दूकानो के मालिक। सुलभ, मीठी शिष्टता। जी आइए, क्या चाहिए आपको ? ब्लेड, ग्लिसरीन-साबुन और मैक्लीन टूथपेस्ट ? जी लीजिए, यह, और यह, और यह···मेरी जेब यानी बटुए मे, सीमित पैसे हैं। मैंने निश्चय किया है कि मुझे आगरा मे ज्यादा-से-ज्यादा इतने रुपये खर्च करने है, उससे अधिक नही। रुपये की इस निश्चित राशि मे जैसे-जैसे कमी होती है, मुझे दूकानदारो की शिष्टता और भलमनसाहत मे सदेह होता है··· लगता है यहां से वहाँ तक सिर्फ लेन-देन है। पैसों और चीजों को एक-

दूसरे से बदलने की सुविधा। पैसों से चीजें और चीजों से पैसे। और तरह-तरह के विनिमय का उबाने वाला माहौल। यानी कि इन्सान और उसकी सभ्यता। क्या आप बतलाने की कृपा करेंगे कि इस माहौल मे ऐसी क्या चीज़ है, जिसे कायम रखने के लिए किसी तरह की कोशिश और साधना की जाय ?

सडक पर जरूरत से ज्यादा भीड़। (इस देश मे कितनी भीड़ है ? और दुनिया मे ? इतने चेहरे, इतने दिल और इतने दिमाग ! आखिर किसलिए ?) आपस मे सटते, टकराते, एक-दूसरे को छेकते, ठेलते स्त्री-पुरुष; असम्बद्ध मानव-इकाइयाँ असम्बद्ध सामानो के बेलगाव अदद। सामान और इन्सान, सामान और खरीद-फरोख्त। लगता है जैसे कहीं, किसी चीज़ से मेरा कोई आवश्यक, भीतरी लगाव नही है। न किसी का मुझसे। न सेठ का विमला से, न विमला का सेठ से। न लगाव, न लगावट, सब खत्म। कहते हैं कि भौतिक जगत् की सारी चीजे एक-दूसरे को खीचती हैं; लेकिन ये सामान ? और इतने इन्सान ? मैं जानता हूँ ये एक-दूसरे को किसी प्राकृतिक कानून के मातहत नही खीचते-बाँधते। मैं, एक अपरिचित, यहाँ, वहाँ, सर्वत्र। मैं और यह घोर अपरिचय, घोर एकांत।

—राम-राम सत्य है। यहाँ किसे यह जिज्ञासा है कि वह कौन है, था ? लाश अपनी ओर किसी को नही खीचती, अकेली चिता पर चढ़ जाती है। बड़ी अजीब बात है। न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण। न्यूटन और आइन्स्टाइन—कहते है आइन्स्टाइन ने न्यूटन को बेदखल कर दिया। आकर्षण नही सापेक्षता·· साऽपेक्षता। एब्सोल्यूट ऐण्ड रिलेटिव। मैं कहता हूँ मेरा अलगाव, मेरा एकान्त, अकेलापन एकदम एब्सोल्यूट है, निरपेक्ष, चरम। मैं···मैं एकदम स्वतंत्र हूँ, आजाद, सबसे उच्छिन्न, बेलगाव।

राम-राम सत्य है। उपेन्द्र और मैं, मैं और विमला, और सेठ···यह विमला मर क्यो नही जाती ? क्यो वह सेठ से और दुनिया से बँधकर रहना चाहती है ?···आपके सिवाय मेरा कौन है, हुँऽ। मैं और विमला, क्यो मैं उसके बारे में सोचता हूँ ? विमला और मै, मैं और उपेन्द्र। उपेन्द्र अब किसी के बारे में नहीं सोचता।

होटल। और सिनेमाघर। उँह, होटल मे क्या रखा है ! कभी-कभी

जब मैं अकेला और ऊबा हुआ महसूस करता हूँ तो किसी सिनेमाघर की ओर चल पडता हूँ। ये रास्ते हैं प्यार के। तस्वीर देखी हुई है इससे क्या! अजय ने भी देखी थी, कितना उत्तेजित हुआ लौटा था वह! मानना पड़ेगा कि फिल्म रोचक है। पोस्टर। वह दृश्य, और वह दृश्य···

मैं खास तौर से एक दृश्य को दोबारा देखना चाहता था—यानी वह क्षण जब नायिका शराब के नशे मे अपने पति के दुश्चरित्र दोस्त पर अनुरागसूचक मदमस्त नज़र डालती है। आप नैतिकता की बात छोड़िए, क्या सचमुच इस तरह की नज़र एक गूढ, रहस्यमय रूप मे आकर्षक और अर्थपूर्ण नही जान पडती? फ़िल्म देखते हुए मैं अचरज कर रहा था: कैसे यह अभिनेत्री इस तरह देखने का अभिनय कर सकी? मुझे अच्छी तरह याद है, कुछ साल पहले फिल्म-जगत् में एक अभिनेत्री दीखा करती थी जिसे सिर्फ नृत्य के कार्यक्रम के लिए विभिन्न फिल्मों में भूमिका दी जाती थी। जूली—यही उसका नाम था। शायद एगलो-इडियन थी, जिस्म से इकहरी, देखने में मामूली तौर पर खूबसूरत। उसकी काठी मुझे खास पसन्द न थी, पर उसका हँसना—उसमें कुछ ऐसा ही उन्मादक आकर्षण था। जिस फिल्म से उसका नाम जुडा रहता, उसे देखने मैं जरूर जाता। आप इसे मेरी बेलौस गुणग्राहकता का सबूत मान सकते हैं।

× × ×

यहाँ मैं आपके सामने एक स्वीकारोक्ति करूँ: फिल्म के अन्दर कथानक से असम्बद्ध भी नाच-गाने के दृश्य मुझे अरुचिकर नही लगते। इस मामले मे मेरी रुचि पुराने नवाबो के मिज़ाज से बहुत-कुछ समानता रखती है। कुछ लोग हिन्दी फिल्मों के कथानक की अयथार्थता और उसमें अर्थ-पूर्ण सघटन के अभाव को लेकर नाक-भौं सिकोडते हैं। मैं ऐसे कई हिन्दी के साहित्यिकों को जानता हूँ जो अंग्रेज़ी फ़िल्मों के संवादो को ठीक से नहीं समझ पाते, फिर भी, जैसे अपनी सुरुचि का सबूत पेश करते रहने के लिए, अक्सर अंग्रेज़ी फ़िल्में देखने पहुँच जाते हैं; और उसी उद्देश्य से हमेशा हिन्दी फ़िल्मो की आलोचना भी करते रहते हैं। मैं मानता हूँ कि हिन्दी-फिल्मो की संघटना अक्सर उचित व अर्थपूर्ण नही होती, कि अक्सर उनमे ऐसे दृश्य घुसा दिये जाते है जो कहानी की प्रगति के लिए जरूरी नही होते। फिर

भी यदि ये दृश्य बढिया नाच-गाने के हों तो मुझे नही खलते। मुझे जो चीज़ ज्यादा खलती है, वह है कथानक के ताने-बाने में आकस्मिक घटनाओं और सुखद संयोगों का समावेश। यों स्वदेशी फिल्मों मे इन चीज़ों की इतनी बहुतायत होती है कि अब मैं इनकी ओर ध्यान भी नही देता। सच पूछिए तो किसी फ़िल्मी या दूसरी कहानी मे बहुत ज्यादा संघटन और सार्थकता की माँग एक कृत्रिम चीज है। जब हम अपनी जिन्दगी को सुसगठित नहीं बना सकते तो फिर कहानी या उपन्यास मे दृढ़ ऐक्य की माँग क्यों करें ? यदि मेरी और मेरे दोस्तों की और आपकी जिन्दगियाँ एक अर्थहीन विशृंखल प्रवाह में बहती है, तो जाहिर है कि इन ज़िन्दगियों पर आधारित कथा-कहानी, कृत्रिम सरलीकरण के बिना, सुसम्बद्ध रूप नही ले सकेगी।

पिक्चर पैलेस। चित्रभवन, चित्रशाला, सिनेमाघर—और दुनिया। मै कभी-कभी सोचता हूँ इन दोनों का मिलन-बिन्दु कहाँ है। मैं और आप, और वे। कैसे लोग सिनेमा पहुँचते हैं ? वे जो जिन्दगी की नीरसता से पलायन खोजते हैं, या वे जो उसकी गति में तीव्रता लाना चाहते है ? तरह-तरह के लोग। इधर-उधर घुमावदार यात्रा करती निगाहे। रोचकता की खोज, यानी कि सौन्दर्य की। ए थिंग ऑव ब्यूटी इज़ ए ज्वाय फार एवर[१]। सरदार के दाहिनी ओर शोख लिपिस्टिक। घने काले बाल, काले और चिकने। जार्जेट और साटन। गंधसिर्फ देखने से गंध का अहसास। कुरता-धोती, कुरता-पाजामा, बिज़नेस मैन और कामरेड। बिज़नेस, मुनाफ़ा और रसभरा पान। बनारस मे लोग कितना पान खाते हैं! (उपेन्द्र पान नही खाता था। मदन और अजय—ये लोग पान क्यों नही खाते ? न पान न सिगरेट। कुछ लोग अपनी पसन्द से भाग्यहीन होते हैं। लेकिन उनकी बीवियाँ आकर्षक हैं!) …और इधर…और उधर। उँह, सौन्दर्य कितना दुर्लभ है! लेकिन क्या जरूरी है कि…शोख़ लिपिस्टिक, पगड़ी, टेरालीन की बुशशर्ट…वे लोग जिन्दगी जीते हैं, ठोस जीना। ज़िन्दगी के केन्द्र में रँगे हुए होंठ हैं और सफेद हँसी। खुली, बेतकल्लुफ, बेनाज-नखरो की हँसी। …साँवले, मामूली क्रिश्चियन चेहरे की संयमित, शिष्ट मुस्कराहट।… एक-दो-तीन; नया प्रवेश, नई गंध। लापरवाह चंचलता। चलते-चलते

१. सुन्दर वस्तु सतत उल्लास का स्रोत होती है।

हँसना, वात करना। लाइट ऑफ। पर्दा गिराओ, पर्दा उठाओ। ट्रेलर। हीरोइन को घेरकर नाचती हुई दस-पन्द्रह लडकियाँ। यह ज्यादती है—आप इतनी जल्दी सब-कुछ कैसे देख सकते है ? सिर्फ चेहरे की वनावट ही काफी नही है, और शायद सिर्फ देखना ही नही। जी हाँ, प्रत्येक व्यक्तित्व की इकाई को सब इन्द्रियो से मिलाकर ही ठीक-ठीक पकडा जाता है, समूची चेतना से। समूचे व्यक्तित्व से। अल्हड उभार और सीखी हुई सतर्क हँसी-हँसियाँ। उठती-घूमती निगाहे, लहराते कदम। तेरी यह चाल हाय…। पापुलर संगीत। पापुलर वनाम शास्त्रीय। क्लासिकल, क्लासिक। कालजयी कला। उठते-गिरते-लडखडाते कदम; उठते डूबते-सोते स्वर।

खोई-खोई-सी निगाहे, वहके-वहके-से कदम
जाने क्या लेकर चले हैं आपकी महफिल से हम !

नायक और नायिका, वाग और फूल, नदी और नाव, वर्फ से ढँका मैदान। क्या प्रकृति इतनी रगीन और खुशनुमा है ?…मुझे प्रकृति से कोई खास लगाव नही है। पहले कभी था। पटना कालेज का लॉन और फुलवारी; जीनिया, गुलदाउदी और कैने के ढेर-के-ढेर पौधे; जाडो मे गेंदा। उन दिनों यह सव सचमुच भला लगता था। जान पड़ता था जैसे फूलो की रगीन शोखी खास तौर से दिल और दिमाग को लुभाने-फुसलाने के लिए प्रकट होती है—जिन्दगी के सगीत पर खुशबूभरी थाप देने के लिए। और अव—लगता है पिछले कई वरसो से कही कभी वैसे फूल देखने को नही मिले। यानी कि विलकुल ही याद नही पडता। जी हाँ, अव मैं प्रकृति का निरीक्षण भी सिर्फ सिनेमा के पर्दे पर करता हूँ।

हीरोइन की मदमस्त, अर्थभरी नजर। यह नजर पति के लिए नहीं होती ! प्रेमी और पति, प्रार्थी और मालिक। ताज्जुव कि सिर्फ एक नजर अस्तित्व के रेशे-रेशे को आन्दोलित और वेचैन कर दे। लेकिन इसी के लिए तो सव फिल्म देखने आते है। जिन्दगी का अर्थ है आन्दोलन, वेचैनी, सकून-सन्तुलन का अभाव।

आगरे की शाम। दिन के और अव के वातावरण में कितना अन्तर है ! और ज्यादा भीड। क्या आप वतलाने की कृपा करेंगे कि यह सारा नजारा, य १ भीड़, यह ठेमलठेल, कहाँ से और किसलिए है ? आपको शायद लगता

है कि यह सब बेतुका और बेईमानी है। शाऽयद। सोचने और उत्तर देने की कोशिश मे जैसे मुझे, मेरी चेतना और बुद्धि को, जँभाई आ रही है। मेरे विचार में यह सवाल और उसके उत्तर को स्थगित कर देना चाहिए। यों, आपकी तरह, मैं कभी-कभी सोचने की लाचारी महसूस करता ही हूँ। लेकिन इस वक्त, जबकि मैं निहायत अकेला महसूस कर रहा हूँ, मैं सोचने की स्थिति में बिलकुल ही नही हूँ। इस समय, यों ही, मैं कुछ देखना चाहता हूँ, कुछ महसूस करना, कुछ पाना, कुछ···।

दुनिया यानी बाजार की मरुभूमि में खूबसूरती के नखलिस्तान। खिली हुई आँखें, आकर्षक रँगे होंठ, और चमकती सफेद हँसी। तरह-तरह के नक्श और अलग-अलग अर्थपूर्ण व्यंजनाएँ। पारदर्शी निर्मलता और सहज मित्रता का भाव; भोली स्वच्छता की रुपहली-गुलाबी आभा; सतर्क बौद्धिकता; स्वचेतन-गर्व की इठलाहट; रहस्यमय, नशीली गहराई की छाया; खुला, ऐन्द्रिय निमंत्रण; कँटीली, तरसाने वाली अदा·· जब-जब मैं किसी ऐसे चेहरे को देखता हूँ, जो एक या दूसरे कारण आकर्षक लगता है, तो अजीब-सी मीठी उलझन मे पड़ जाता हूँ। लगता है जैसे देश-काल के अर्थहीन विस्तार में एकाएक नई सार्थकता का फूल खिल आया हो, मानो विश्व ब्रह्माड ने सोच-समझकर अनास्था के प्रश्नों का एक नया उत्तर उपजाया हो, या मेरे मन और मस्तिष्क को बाँधने के लिए कही से अचानक एक नया, आकर्षक किस्म का जाल बुनकर आ गया हो। उस वक्त मेरे भीतर में जैसे सवाल उठता है : यह चीज क्या है, इसके माध्यम से यह जगत् का विस्तार अपनी किस असलियत को दर्शको पर जाहिर करना चाहता है—मुझ तक क्या पहुँचाना चाहता है ? यह लुभाने वाला आकार, यह आकर्षण, किस रहस्यमय यथार्थ का सदेश दे रहा है ?

यह नही कि मैं विपरीत किस्म की चीजो के अस्तित्व से परिचित नहीं हूँ, या उन पर कभी मेरी नजर नही जाती—लेकिन उन्हें देखना मुझे पसद नही। सच पूछिए तो दुनिया मे बदसूरत इसान ही ज्यादा हैं, और बूढे और बीमार। सुबह साढे-सात या आठ बजे, जबकि निगम साहब सोकर उठते या शौच से निबटते हुए होते है, मुहल्ले के घरों से लौटती हुई दाइयों के गरीबी और थकान से बेरौनक बने चेहरे, और शाम के पाँच बजे किसी

फैक्टरी से वेतरतीब निकलते हुए गन्दे, झुड-के-झुड जानवरों जैसे मजदूर। और···वैसे भी, अपने दोस्तो के अलावा, पुरुप मुझे कम ही पसन्द पड़ते हैं। खास तौर से वे पुरुप जो खूबसूरत प्रेयसियो या पत्नियों के साथ होते हैं। स्वस्थ, सब तरह की वारीक समस्याओं से अछूते, आजाद, सतोप की भौंडी व्यंजना लिये हुए व्यापारी, यानी कि स्थूलकाय सेठ और दाढी वाले सरदार, प्रयत्न से जुटाये हुए सूट में अभाव और सघर्प की छाया से सजीदा चेहरे लिये हुए मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी, जो चाय की गरमाहट और सिगरेट के धुएँ में निश्चिन्तता की अनुभूति का अभिनय करते हैं; चदले सिर वाले प्रौढ़ ऐडवोकेट, ऑफिसर और अध्यापक और यहाँ-वहाँ के सम्मानित सदस्य, जिन्होने, यात्रिक अनुशासन और कड़े परिश्रम से, शरीर और मन की ताज़गी के एवज पद और सम्मान अर्जित किया है, राजनीतिक दलों के आत्मतुप्ट, अपने को सर्वज्ञ मानने वाले, अहम्मन्य नेता व सदस्य जो मौके-वेमौके लेक्चर झाड़ने को तैयार रहते हैं; वगैरह-वगैरह। दूसरे पुरुप ही नही, खुद मैं भी अपने को ज़्यादा पसन्द नही हूँ। आईने में अपनी विशेपताहीन शक्ल और भगिमाएँ देखने की अपेक्षा फ़ेयर-सैक्स के वारीक, वौद्धिक मुस्कराहट या खुली फूलो जैसी हँसी से संयुक्त चेहरों पर नज़र डालना मुझे कही ज्यादा पसन्द है। अगर दुनिया को वनाने मे मेरा हाथ होता तो मैं कोशिश करता कि उसमे सिर्फ सुन्दर चेहरे ही हों और वे भी मुख्यतः 'सेकेण्ड सैक्स' के; पुरुप के नाम पर वहाँ मैं कम-से-कम प्राणियों को रखता—कहने की ज़रूरत नही कि खुद अपनी उपस्थिति से मुझे आपत्ति न होती।

अपनी आँखो और मन के इस वेइन्तहा रूप-लोभ पर मुझे कभी-कभी असमजस और ताज्जुव होता है। जाहिर है कि निगम साहव मुगले-आज़म नही है, कि हरम वसा लेना उनके सामर्थ्य के बाहर है। उनके भाग्य मे सिर्फ यही है कि तरह-तरह की शमाओं को दूर से देख-देखकर जला करें। आपसे एक व्यक्तिगत इतिहास की वात कहूँ, मेरी रुचि और मनोवृत्ति शुरू से ऐसी नही थी। मुझे अच्छी तरह याद है, जिन दिनो मेरा सरोज से सम्पर्क और सम्वन्ध था, उन दिनो मेरी दृप्टि और मन अधिकतर उसी मे ससक्त रहते थे। एक अवसर याद आ रहा है। कालेज के वड़े हॉल मे वार्पिक-दिवस का समारोह था। वाईं ओर की वेंचो की कतार मे सरोज कुछ पीछे की ओर

बैठी थी; मैं दाईं ओर ज्यादा आगे की बेंच पर था। मेरे आगे कुर्सियों की दो कतारें थी, जो नगर के सम्भ्रान्त लोगों के लिए सुरक्षित थी। मेरे ठीक आगे कुछ विशेष सुन्दर महिलाएँ आकर बैठ गई थी। उनमें से एक निश्चित ही बहुत ज्यादा आकर्षक थी। दो-एक बार मेरी दृष्टि उस ओर गई होगी; लेकिन मेरी दिलचस्पी का मुख्य केन्द्र सरोज ही थी, जिसे देखने को बार-बार मेरी नजर पीछे मुड़ जाती थी।

डॉक्टर सिनहा की धारणाओं के अनुरूप विवाह से पहले सरोज लिपिस्टक का प्रयोग नही करती थी। फिर भी हल्का चाकलेट शेड लिये हुए उसके होंठ विशेष आकर्षक लगते थे। ऐसे होंठ जो विशेष रूप मे किसी अन्तर्निहित रस का भ्रम उपजाते हैं। उसकी आँखों में और चेहरे पर भी एक खास तरह के गूढ़ आकर्षण की रहस्यमय छाया थी।

मैं बाजार में घूम रहा हूँ। अभी तक फ़िल्म में देखे हुए कुछ चित्रों की याद ताजी है; यों उसके बाद भी कुछ-न-कुछ देखता ही रहा हूँ। मन के भीतरी कोने मे कोई दबी हुई कामना रूपाकार ले रही है। लेकिन मैं जानता हूँ कि वह कामना या वासना कभी सुनिश्चित रूप-रेखा नही पा सकेगी।

काश कि मैं यह जान पाता कि मैं क्या चाहता हूँ—या यह कि मेरी ज़रूरतें क्या हैं। दुनिया और बाज़ारों मे घूमते हुए मैं चाहता हूँ कि मुझे, समय-समय पर, सुन्दरता का दर्शन होता रहे। फिर कभी-कभी, या यों कहिए कि अवसर, बल्कि निरन्तर, यह कामना होती है कि सौन्दर्य मेरे क़रीब हो, मुझसे संपृक्त, मेरे अधिकार मे। ज़ाहिर है कि वैसी सुविधा सुलभ नही है। अचरज यह कि वे क्षण भी, जब वह सुविधा प्राप्त होती है, मेरी संवेदना को सन्तोष नही दे पाते।

आप शायद उस समस्या को, जिसकी ओर मैं संकेत करना चाहता हूँ, समझ नहीं रहे हैं। पूरा-पूरा समझने का दावा मुझे भी नही है। आप और मैं जानते हैं कि पूर्ण सौन्दर्य बड़ी दुर्लभ और नायाब चीज़ है। जो दूर से विशेष मोहक और लुभाने वाला जान पड़ता है वह पास आते-आते साधारण लगने लगता है। लेकिन इस समय मैं परिस्थितियों के इस तरह के भुलावे या प्रवचन की चर्चा नही कर रहा; मैं कुछ और ही कहना चाह रहा हूँ। मान लीजिए कि आप निस्बतन निर्दोष सौन्दर्य की उपस्थिति में

हैं और ऐसी स्थिति मे कि उसका कमोवेश स्वच्छन्दता से उपयोग कर सकें। तव क्या आप समझते है कि आप पूर्णतया सतुष्ट और तृप्त महसूस करेंगे ? मेरा अनुभव ऐसा नही है। मेरा विश्वास है कि ठीक से अन्तर-निरीक्षण कर लेने पर, आप पाएँगे कि आपका अनुभव भी मेरे जैसा ही है। यानी यह कि किसी चीज़ का न चूकने वाला, लगातार कोचने-करोदने वाला आकर्षण भी एक तरह की ऊव पैदा करता है। ऊव और आकुलता। जैसे आप चाहते हों कि उस आकर्षण को पूरा-पूरा आत्मसात् करते, उस क्रिया द्वारा किसी अर्थ मे नि.शेष व खत्म कर, जल्दी-से-जल्दी अपने उत्तेजित अधीरज से मुक्ति पा जाएँ। जैसे उसकी सुरक्षित उपस्थिति और आपकी चरम तृप्ति व सतुलन की स्थिति मे विरोध हो। अपनी निरन्तर विद्यमानता और करीव स्थिति से वह मानो आपके ध्यान देने और रस लेने की ताकतों को थका डालता है, और यह थकान एक अजीव-सी ऊव और वोरियत में परिवर्तित हो जाती है। फल यह कि आप अपने अन्तर्मन मे उस आकर्षण के सान्निध्य से दूर हटने की इच्छा करने लगते हैं।

मुझे वैसा अनुभव कम-से-कम दो वार हुआ है, और एक वार यहीं आगरा मे। इसके वावजूद इस वक्त यह तेज ख्वाहिश हो रही है कि उस या उस तरह के सौन्दर्य का क़रीवी सम्पर्क हासिल किया जाए।

× × ×

'निगमजी, नमस्ते।" मैंने घूमकर अपनी दाहिनी ओर देखा; सामने से सर्वजीत कौर सडक पार करके मेरी ओर वढ रही थी। मैं रुककर खड़ा हो गया। पास पहुँचती हुई वोली, "निगमजी, मैंने कहा नमस्ते। कव आना हुआ आपका ? यह मेरी चचेरी वहन है, पुप्पा'; और पुप्पा की ओर देखकर, 'ये हमारे मास्टरजी हैं, यानी कि निगम साहव। ये वहुत वड़े लेखक है, एक पत्रिका निकालते है—क्या नाम है उसका, सामयिक देवता ?'

'समय-देवता', मैंने उसकी स्मृति को मदद देते हुए कहा, 'लेकिन वह इधर कुछ दिनो से वन्द है।'

सर्वजीत से मेरा परिचय वहुत पुराना है। इन्टरमिडिएट पास करके मैं आगरा मे अपने मामा के यहाँ छुटिटयाँ विताने आया था। मामाजी की एकमात्र सन्तान सुधा दीदी भी, जिनकी हाल ही मे शादी हुई थी, आयी हुई

थी। सर्वजीत करीव के एक घर में रहती थी और सुधा के पास पढ़ने के लिए आया करती थी। तव वह मैट्रिक क्लास में थी और सुधा दीदी से खास-तौर से हिन्दी में मदद लेने आती थी। मेरे आ जाने पर सर्वजीत को हिन्दी पढ़ाने का भार मुझ पर आ पड़ा। सर्वजीत का चेहरा लम्बा और अपेक्षाकृत दुवला है, उसके होठ पतले और फैले हुए है, और दाँत कुछ वड़े और चम-कीले। आँखे कुछ छोटी और अन्दर की ओर घँसी हुई-सी; माथा ऊँचा और वाल कमर तक पहुँचते हुए लम्बे; उन दिनो वे घने भी थे। सर्वजीत शुरू से ही वातचीत में मुक्त और तेज रही है। पढते समय अक्सर मुझसे मजाक करती थी। 'मास्टरजी, आप अपने नाम के आगे निगम क्यों लिखते हैं ? निगम वेदों को कहते है या शास्त्रों को ? यह आपकी हिन्दी ज़वान वहुत कठिन है, हमारी पजावी भाषा वड़ी मीठी है। मास्टरजी, आप मुझे कहानी लिखना सिखा सकते है ?···अच्छा आपको सुधा दीदी अच्छी लगती है या मैं ?' वगैरह-वगैरह। मुझे सर्वजीत आकर्षक लगती थी, लेकिन उन दिनों मुझमे इतना साहस नही था कि मैं उससे किसी तरह की आजादी वरतने की कोशिश करता—यानी उन मौको पर जव वह और मैं कमरे मे या वगल वाले वरामदे में अकेले रह जाते। वाद मे, सरोज से परिचय हो जाने के वाद, मेरी सर्वजीत से सम्बद्ध दिलचस्पी एकदम ही खत्म हो गई। इधर पाँच-सात वरस पहले सर्वजीत की शादी हो गयी। शादी के कुछ ही दिनों वाद व्यव-सायी पति ढेर-सा रुपया कमाने के चक्कर में अफ्रीका चला गया है। सर्व-जीत अव अपनी माँ के साथ रहती है। पिछली वार जव मैं सेठ के घर आया था तो एक दिन अकस्मात् सर्वजीत से मेरी भेट हो गयी थी। तव मैंने उसे एक मामूली रेस्तरां मे चाय पिलाई थी। मैं उसके घर भी गया था; वहाँ उसने और उसकी माँ ने वड़े व्योरे के साथ नरेन्द्र या नरिन्दर सिंह यानी सर्वजीत के पति के स्वभाव और चरित्र के वारे में वतलाया था। माँ के हट जाने पर सर्वजीत ने वड़े कड़वे स्वर में कहा था : मैं सोचती थी कि नरिन्दर एक अच्छा विजनेसमैन है, कम-से-कम पैसे के मामले मे तो सुख रहेगा, भले ही वह साहित्यिक न हो। (सर्वजीत को शुरू से ही कहानियाँ लिखने का शौक है। यद्यपि लिखने के मामले मे उसे ज्ञान क ख ग का भी नही है, तो भी उसने दर्जनो कहानियाँ लिखी है।)

सच कहूँ, मुझे किसी का रोना-धोना पसन्द नही है। उस दिन अपने पति की शिकायत और अपने अभाव और दैन्य का वखान करती हुई सर्वजीत मुझे एकदम ही अच्छी नही लगी थी। कुछ देर वाद जव मैं चलने को हुआ तो वह मुझे छोड़ने के लिए साथ चलने को तैयार हुई। तव उसने एक अच्छी-सी हलके हरे या धानी रग की साडी पहनी और सतर्कता से होठों पर लिपिस्टिक फेरी। रिक्शा लेने के लिए मुझे कुछ दूर तक जाना था। कुछ चलने पर वाजार शुरू हो गया। मैंने प्रस्ताव किया कि एक-एक प्याला चाय पी ली जाए। सर्वजीत राजी हो गई। वह अव हिन्दी मे एम० ए० कर चुकी थी, और उसका कहानी-लेखिका वनने का स्वप्न अभी भी ज्यो-का-त्यों चल रहा था। बातचीत के सिलसिले मे उसे पता हो गया था कि मैं 'समय देवता' नाम की पत्रिका निकालता हूँ। उसे अभी तक आशा थी कि मै उसके लेखिका बनने मे सहायक हो सकूँगा, वातों के दौरान मे वह इस आशा को प्रकट भी कर चुकी थी। सभवतः इसीलिए वह मुझे नाराज नही करना चाहती थी और मेरे साथ रिक्शा-स्टैंड तक आने को उद्यत हो गई थी। वैसे भी उसके घर के आस-पास वाले समझते थे कि उसके और मेरे वीच वहन-भाई का सम्वन्ध है। लेकिन किसी ऐसी लडकी के साथ, जो मेरी सम्वन्धी नही है, मैंने कभी उक्त रिश्ते को स्वीकार नही किया। रिश्तेदारी के वाहर मैं स्त्री और पुरुप के एक ही सम्वन्ध को स्वीकार करता हूँ, यानी मित्रता का सम्वन्ध। इसके अलावा उस वक्त सर्वजीत विशेप आकर्पक भी लग रही थी।

हम लोग एक अलग केविन मे वैठे थे। चाय के साथ एक प्लेट काजू भी मैंने मँगवाये थे। एक वार मैने कोशिश की कि अपने हाथ से एक काजू सर्वजीत के मुँह मे डाल दूँ, लेकिन उसने मुँह हटा लिया और वोली, 'मैं आपकी भावना की कद्र करती हूँ, लेकिन···' यह कहने के साथ उसके चेहरे पर अजीव-सी नीरसता की स्याही घिर आई थी।

मेरा मूड ऑफ हो गया। मुझे सर्वजीत से इस तरह के अनादर या उपेक्षा की आशा न थी, विशेषत: उस स्थिति मे जव मैंने उससे अभी तक खुलकर नही कहा था कि वह कहानी-लेखिका नहीं वन सकती, और यह कि मैं उसकी मदद नही कर सकूँगा।

उस दिन से सर्वजीत के व्यक्तित्व में मेरी रही-सही दिलचस्पी भी खत्म हो गई। जिन दिनों सर्वजीत मामाजी के घर पढ़ने आती थी तो कभी-कभी उसकी छोटी-सी चचेरी बहन पुष्पा भी साथ आ जाती थी। पिछली वार जब मैं उन लोगों के घर पहुँचा तब ज्ञात हुआ पुष्पा अपनी ससुराल मे थी। कहना चाहिए कि पुष्पा को आज मैं पहली वार एक युवती के रूप मे देख रहा था। वह सर्वजीत की अपेक्षा कद मे कुछ छोटी और शरीर से कुछ ज्यादा स्वस्थ है। किन्तु अपनी वहन की तुलना मे वह अधिक आकर्षक हो, ऐसी बात नही है।

हम लोग वाजार मे ताज होटल की तरफ, जहाँ मैं ठहरा था, बढ रहे थे। एक साधारण रेस्तराँ के पास पहुँचते हुए मैंने कहा, 'चलो चाय पी ले।' सर्वजीत ने पुष्पा की ओर देखा, फिर धीरे-धीरे दोनों मेरे साथ रेस्तराँ मे घुस आयी।

'चाय के साथ कुछ लेगी ?' मैने एक छोटी मेज के एक तरफ सर्वजीत और पुष्पा के सामने बैठते हुए पूछा।

'जी, हम सिर्फ चाय ही लेगे', पुष्पा ने सर्वजीत पर नजर डालते हुए उत्साहहीन स्वर मे कहा।

'चाय के साथ कुछ तो लेना ही चाहिए,' कहते हुए मैंने वैरा को आवाज़ दी। उन लोगों ने कोई उत्तर नही दिया। चाय आने पर मेरे दोवारा पूछने पर सर्वजीत ने दबे स्वर मे कहा, 'बात यह है निगमजी, पुष्पा को यह होटल पसन्द नही है। इसे तो वस क्वालिटी मे बैठकर चाय पीना ही अच्छा लगता है।'

'तो फिर क्वालिटी में ही चले,' मैंने विशेष उत्साह के प्रदर्शन बिना, मानो शिष्टता के निर्वाह के लिए, कहा। एक अकेली लड़की के साथ चाय पीने मे कम-से-कम यह आशा रहती है कि कुछ प्रसन्नता या मनोविनोद होगा, दो के साथ चाय पीना, मेरी राय में, खालिस हिमाकत है। लेकिन कभी-कभी परिस्थितियाँ मजबूर कर देती है। मुझे, अपने पास से पैसे खर्च करके, सर्वजीत के साथ चाय पीने की विशेष उत्सुकता न थी। और पुष्पा ? वह इतनी आकर्षक न थी कि उससे घनिष्ठ होने के चाव मे क्वालिटी जैसे मँहगे रेस्तरा मे बैठकर चाय पी जाए।

दो रिक्शे लेकर हम लोग सिविल लाइन्स के बाजार मे पहुँचे, ठीक

क्वालिटी के सामने।

चाय की मेज पर सर्वजीत सहसा वाचाल हो उठी—जैसे कि वह अपने घर में हो जाया करती है। मैंने कुछ वक्त काटने के लिए और कुछ शिष्टतावश पुष्पा के बारे मे पूछताछ की। 'जानते है,' सर्वजीत ने उत्साह से कहना शुरू किया, 'शादी से पहले पुष्पा क्या कहती थी? कहती थी कि जिसके साथ मेरी शादी हो उसे इस लायक होना चाहिए कि ठीक-ठीक मेरा खर्च बरदाश्त कर सके। मुझे किसी और चीज की परवाह नही, सूरत-शक्ल चाहे मामूली ही हो, और उम्र भी कुछ ज्यादा हो तो कोई बात नही।' पुष्पा मन्द-मन्द मुस्करा रही थी। बोली, 'देखिए निगमजी, आज के जमाने में सब-कुछ रुपए पर निर्भर करता है। आपके पास रुपया नही, तो कुछ नही; फिर भले ही आप खूबसूरत हों, या लेखक हो, या कुछ भी हो। एक आदमी को देखकर हम उसके भविष्य के बारे मे यह ठीक से नही कह सकते कि वह आगे चलकर सफल बन सकेगा या नही। जीजी की शादी की बात चलने पर मैंने चाचीजी से यह बात कही थी। चाचीजी का और दूसरो का भी खयाल था कि लडका होनहार है; अब देखिए न वह अफ्रीका गया हुआ है और जीजी के पास चिट्ठी तक नही डालता। इसीलिए मैने इस बात पर जोर दिया था कि मेरी शादी ऐसे व्यक्ति से होना चाहिए जो अभी ही खुशहाल और अमीर है। मेरी आदते कुछ बचपन से ही ऐसी बन गई है कि मैं थोडे मे गुजर नही कर सकती। मिसाल के लिए मुझे घटिया होटल में बैठकर चाय पीना बिल्कुल अच्छा नही लगता। यहाँ क्वालिटी मे अक्सर भले लोग ही चाय, कॉफी या खाने के लिए आते है। यहाँ बैठना अच्छा लगता है, बैठकर दिल खुश होता है, है न?'

मैं उस समय पुष्पा की सुरुचि को सराहने के मूड मे बिलकुल ही न था। चाय के साथ दो-तीन खाने की चीजे आ चुकी थी, और पुष्पा की तरह मैं भी आइसक्रीम का शौकीन हूँ, इसकी चर्चा सर्वजीत पुष्पा से कर चुकी थी।

चाय खत्म होने से कुछ पहले वेटर ने मेरे हाथ मे बिल दिया। पुष्पा ने तत्परता से अपना बैग खोलते हुए निश्चयात्मक स्वर मे कहा, 'निगमजी, बिल मुझे दीजिए, उसका पेमेन्ट मैं करूँगी।'

'वाह, यह कैसे हो सकता है!' मैंने अपना पर्स निकालते हुए कहा।

'देखिए जीजी, क्वालिटी में सबको बुलाकर मैं लायी थी, इसलिए पेमेन्ट मुझे करना चाहिए।'

सर्वजीत पुष्पा से उम्र और संबंध दोनों में बड़ी थी, फिर भी उसके रुख से यह प्रकट नही हुआ कि उसे पुष्पा द्वारा बिल का पेमेट किये जाने से एतराज़ है। किन्तु ज़ाहिर ही उसके द्वारा पेमेट मेरे स्वाभिमान के विरुद्ध था। शायद इसलिए कि उसे खुद पेमेट करने का खयाल था, पुष्पा ने बीच-बीच में एक-दो चीजो का ऑर्डर किया था। अन्त में, गर्म चाय पी चुकने के बावजूद, आइसक्रीम का आर्डर भी उसी ने किया।

कहने की ज़रूरत नही कि, जैसा कि उचित और स्वाभाविक था, पेमेंट मैंने ही किया—सिर्फ सात रुपए और साठ पैसे और बाकी चालीस पैसे बेटर को। सर्वजीत ने स्निग्ध स्वर में अगले दिन अपने घर भोजन करने का निमत्रण दिया। पुष्पा ने निमत्रण का समर्थन करते हुए कहा, 'ज्यादा अच्छा यह हो कि आप और जीजी दोनों हमारे घर आएँ; मेरे बाबूजी साहित्यिक लोगों को बहुत पसंद करते हैं।'

दोनों को ही निराश करते हुए मैने कहा कि मैं अगले दिन सुबह की गाड़ी से दिल्ली जा रहा हूँ।

सर्वजीत से छुट्टी पाकर मैंने राहत की साँस ली। मैं सचमुच बहुत बोर हो गया था, और इस बोरियत का एक खास कारण यह भी था कि मेरी जेब से पूरे आठ रुपए और रिक्शा का व्यय मिलाकर लगभग दस रुपए खर्च हो चुके थे। एक ऐसी मद पर पैसा खर्च करना जिससे मुझे किसी तरह का व्यक्तिगत मनोविनोद या सुख न मिले, मुझे एकदम ही पसद नही है। वैसा खर्च मुझे शुद्ध बौडमपना यानी मूर्खता नज़र आता है। कहते हैं कि समाज मे रहते हुए दूसरो का भी हम पर कुछ अधिकार व दावा होता है, मैं इस मंतव्य को एकदम ही स्वीकार नही करता। आप कहेगे कि तुम घोर व्यक्तिवादी हो। जी हाँ, क्यो नही? इसके अलावा कुछ होने का मैं कोई ठोस कारण नही देखता। और, क्या कोई बतलाने का कष्ट करेगा कि आज के युग में कौन ऐसा है, जो व्यक्तिवादी नही है? जैसा कि बाबा तुलसी दास ने कहा है, मनुष्य और देवता सब स्वार्थ के लिए ही प्रीति करते है। जिन दिनों मैंने सर्वजीत से पढ़ने-पढ़ाने का सिलसिला जोड़ा था उन दिनों

मैं वय.संधि के दौर से गुजर रहा था। लड़कियों को लेकर मेरे मन में स्वाभाविक उत्सुकता थी। आगरा मे पहली बार मुझे एक पजावी लडकी से सम्पर्कित होने का मौका मिला था। स्वभावत: मै उसकी ओर आकृष्ट हुआ। उन दिनो सर्वजीत काफी चंचल और चुलवुली थी, वह सहज-भाव से हँसती और मजाक करती थी। वह सुधा दीदी से वहुत घुली-मिली थी और उनके नाते मुझसे भी निकटता का अनुभव करने लगी थी। यह जानते हुए कि मैं एक साहित्यिक था, वह मेरा आदर भी विशेप करती थी। आप यकीन जानिए कि अपना आदर करने वाला व्यक्ति, फिर चाहे वह कितना ही साधारण और कम समझ क्यो न हो, हमें अच्छा लगने लगता है। वाद मे जव वह मिली तो काफी वदल गई थी। उसकी शादी हो गई थी, और वह वहुत-कुछ दीन और दु खी दिखायी देती थी। आप खुद ही सोचिए, इस तरह के व्यक्ति मे निगम साहव कैसे दिलचस्पी ले सकते थे? फिर भी मैंने ईमानदारी से यह कोशिश की कि सर्वजीत को अपने वदले हुए मनोभाव से परिचित न होने दूँ। वडी सजीदगी और तत्परता से मैं उसके और उसके पति के सवध से ताल्लुक रखने वाले दुख-सुख की कहानी सुनता रहा। वाद में उसने एकाएक अपने मूड मे परिवर्तन कर लिया था, जिससे मैंने सतुप्ट महसूस किया था। मैं उसके साथ चाय पीने वैठा था। उसके वीच उसके चेहरे पर अकस्मात् जो अँधेरी विरसता का भाव आ गया था वह इतना विकर्षक और विरक्तिजनक था कि उसकी याद होने पर मुझे आज भी मतली-सी आने लगती है। उस दिन, उस वक्त, मैंने निश्चयात्मक ढंग से यह महसूस किया कि अव मेरा और सर्वजीत का सवध खत्म हो गया। लेकिन आज, मेरे दुर्भाग्य से, वह मुझे फिर मिल गई और मेरे आठ-दस रुपए खर्च हो गए।

× × ×

अन्तर्राष्ट्रीय भवन की सुथरी, विशाल इमारत। विस्तृत कम्पाउण्ड, गेट की ओर जाती हुई सडक के दोनो ओर फूलों की कई ज्यामितिक शक्लों की क्यारियाँ। दूसरी मंजिल में कमरों के आगे लम्वी, चमकते फर्श वाली गैलरी जो जीने के पास थोड़ी घूम जाती है; सुथरे, एकान्त कमरे जिनमे संलग्न वाथरूम हैं। नीचे से दाहिने हाथ को डाइनिंग हॉल है, जहाँ प्रथम

श्रेणी के होटल जैसा खान-पान का प्रवन्ध है। मैं प्रसन्न हूँ कि यहाँ ठहरने का मौका मिला।

कल सगोष्ठी का उद्घाटन है, आज खाली हूँ। सोच रहा हूँ कि अस्थाना से भेंट कर लूँ। इधर युगों से उससे भेंट नही हुई, एक-दो पत्र जरूर मिले है। चार-पाँच वरस पहले ही तो अस्थाना ने एम० ए० किया था, इतने अरसे मे उसने कितनी तेजी से तरक्की की है! कहाँ वी० नगर मे सायकिल लेकर घूमने वाला अखवारनवीस और कहाँ राजधानी के आकाशवाणी भवन मे टी० वी० से सवधित सहायक प्रोड्यूसर। सुना है दिल्ली मे अस्थाना की खासी धाक है।

लंच से प्रायः दो वजे निवटकर कुछ देर विश्राम। चार वजे टेरीलीन का सूट पहनकर कमरे से निकला। गैलरी मे कुछ ही आगे वढा था कि एक महिला से भेंट हो गई। 'आप सेमिनार मे भाग लेने आये है?' महिला ने अँग्रेज़ी में पूछा। 'जी हाँ, क्या आप भी···?' 'आप से मिलकर मैं सचमुच वहुत प्रसन्न हूँ, मेरा नाम अमिता है।' 'और मुझे निगम कहते है।' कहते हुए हम दोनो ने हाथ मिलाए।

नीचे उतरने पर उन्होंने प्रश्न किया, 'इस समय आपका क्या प्रोग्राम है?' 'मैं···मुझे एक मित्र से मिलने जाना है; और आप?' 'मैं अलस्सुबह ही आ गई थी—ग्वालियर से। वहुत वोर महसूस कर रही हूँ। सोचती थी कोई साथ मिले तो कनाट प्लेस घूम आऊँ।' 'तो चलिए, मित्र से मैं फिर मिल लूँगा।' 'नही, मैं आपके प्रोग्राम मे व्यतिक्रम नही करना चाहूँगी।' 'कोई वात नही, वैसे भी मुझे कनाट प्लेस होते हुए ही जाना होगा।' 'अच्छा, तव कुछ देर तक आप मेरा साथ दे सकेंगे; यों मैं स्वयं भी वहाँ ज्यादा देर रुकना पसंद नही करूँगी।'

उसी समय एक टैक्सी आकर रुकी। ज्ञात हुआ वही के मैनेजर ने मँगवाई है। लम्बा कद, साधारण शक्ल-सूरत, कनपटी पर सफेदी-मिश्रित वाल; मैनेजर ने आते ही महिला को लक्ष्य कर कहा, 'आपको कनाट प्लेस जाना है, चलिए, मैं छोड़ दूंगा; मैं उधर ही जा रहा हूँ।' महिला ने मेरी ओर देखा। 'आप भी चलिए,' मैनेजर ने कहा। क्षण-भर सोचकर मैं दोनों के साथ बैठ गया।

महिला बीच में थी। वे सचेत शिष्टता से मैनेजर से बातचीत कर रही थीं। कनाट प्लेस में, महिला की अनुमति से, सिन्धिया हाउस के पास उतरते हुए, मैनेजर ने टैक्सी का भाड़ा अदा किया। मैंने उन्हें अपनी ओर से धन्य-वाद देकर विदा ली।

लगभग बीस मिनट बाद मैं करौल बाग की बस पकड़ सका। पूछताछ करते हुए अस्थाना के घर पहुँचते-पहुँचते लगभग छह बज रहे थे।

अजीब मजाक है, हजरत अभी तक घर नहीं पहुँचे। पत्नी से मेरा परिचय नहीं है; खैरियत यह कि वे मुझे जानती हैं। घर में एक नौ-दस बरस की लड़की है, अस्थाना की भतीजी। एक छोटा शिशु भी है, उसका दो बरस का लड़का। सुषमा सूचना दे रही है: चाचाजी बहुत देर से आते हैं, कभी आठ बजे, कभी और बाद में। दफ्तर में काम बहुत रहता है, फिर बस से आने में भी समय लगता है; वगैरह। मैं सोच रहा हूँ, उससे दफ्तर में ही भेंट करूँगा, यानी कि रेडियो स्टेशन में।

अस्थाना जितना आधुनिक और आजाद-तबीयत है, उसकी पत्नी उतनी ही मध्ययुगीन और रूढ़िवादी। वह मेरे सामने आकर बात करना पसन्द नहीं कर रही है। बैठक-रूम के दरवाज़े से, सुषमा को माध्यम बनाकर, चाय-पानी की बात कह गई है। मुझे आश्चर्य है; क्या अस्थाना ने अपनी श्रीमती-जी को बदलने के लिए कुछ भी कोशिश न करने की कसम खा ली है?

सात बजे तक प्रतीक्षा करने के बाद मैंने अस्थाना के नाम सख्त-सा नोट लिख दिया है; अपना फोन नम्बर दे दिया है और उसके दफ्तर में पहुँचने की धमकी या आगाही दे दी है। मुझे यकीन है कि कल मुझे उसका फोन मिलेगा।

बस में लौटते हुए मैं सोच रहा था: नाहक ही एक आकर्षक व्यक्तित्व का साथ छोड़ा। मैनेजर भी कैसे बेमौके जाने को निकल पड़ा। एक तरह से अच्छा ही हुआ, वर्ना टैक्सी का किराया अपने मत्थे पड़ता। बस की खोज में निकलना भद्दा लगता। ओह! इन पढ़ी-लिखी आधुनिक महिलाओं की संगति कितनी मँहगी है!

आज संगोष्ठी का उद्घाटन था। उद्घाटन के लिए पार्लियामेंट के प्रसिद्ध लेखक-सदस्य डॉ० सत्यपाल को आमन्त्रित किया गया था। हॉल में

खूब भीड़ थी। दिल्ली के कई प्रसिद्ध नेता और अधिकांश साहित्यकार मौजूद थे। जैसा भव्य और चमकीला हॉल, वैसा ही कीमती सागौन का फर्नीचर। प्रतिष्ठित स्त्री-पुरुषों का खासा जमाव था। लोगो में विशेष उत्साह था, यह कहना कठिन है; पर वे देखने में तत्पर जान पड़ते थे। सगोष्ठी की सचालन-समिति के मत्री श्री यदुवंशी खास तौर से प्रसन्न और क्रियाशील दीख पड़ते थे। बड़े उपकृत भाव से मुस्कराते हुए वे आने वाले अतिथियों का स्वागत कर रहे थे। उन्होंने कार से उतरते हुए डॉ० सत्यपाल का बडे तपाक से स्वागत किया।

पार्लियामेट में डॉ० सत्यपाल राजस्थान के एक नगर का प्रतिनिधित्व करते हैं, यों वे समूचे हिन्दी जगत् के प्रतिनिधि है। वे राष्ट्रभाषा हिन्दी के अन्यतम समर्थकों मे हैं। इस समय उनकी उम्र साठ के लगभग है, लेकिन अभी भी इनकी आवाज़ में कडक है और वे एक प्रभवाशाली वक्ता समझे जाते हैं। डॉ० सत्यपाल को गिनती पुरानी पीढी के समर्थ हिन्दी लेखको में की जाती है। उन्होने कई बार यूरोप तथा अमेरिका की यात्रा की है, और अपनी यात्राओ के लम्बे संस्मरण लिखे हैं। उन्होंने दर्जन-भर उपन्यास और बहुसख्यक ललित निवन्ध भी लिखे है। वे अग्रेज़ी और हिन्दी दोनो मे ही सफाई से बोल लेते हैं। कहा जाता है कि पहले वे अग्रेज़ी ठीक से नही बोल पाते थे, लेकिन इधर उन्होने कोशिश करके अग्रेजी बोलने का अभ्यास किया है। अपने प्रख्यात हिन्दी-प्रेम के बावजूद इधर वे पार्लियामेट मे अक्सर अग्रेजी मे बोलने लगे हैं। जहाँ तक उनके उपन्यासो का सम्बन्ध है, उनकी हिन्दी-जगत् मे विशेष चर्चा नही हुई है; लेकिन अग्रेजी के एक प्रसिद्ध पत्र ने एक बार उन पर एक पूरे पैराग्राफ की टिप्पणी दी थी, जिसमे यह घोषित किया गया था कि डॉ० सत्यपाल हिन्दी के श्रेष्ठतम जीवित उपन्यासकार है।

जैसा कि मैंने कहा, उद्घाटन के समय (और बाद मे डॉ० सत्यपाल के भाषण के दौरान मे भी) लोग देखने मे बडे तत्पर जान पड़ रहे थे। हॉल में घुसते हुए डॉ० सत्यपाल प्रफुल्ल मुस्कान की मुद्रा मे नमस्कार करते हुए लोगों का अभिवादन स्वीकार कर रहे थे। लगता था जैसे वे उनमे से अधिकाश को व्यक्तिगत रूप मे जानते है; भौहो और माथे की रेखाओ के चढाव और चौड़ी मुस्कराहट से कुछ लोगो के प्रति वे विशेष आत्मीयता का प्रदर्शन

कर रहे थे। अनुमान होता था कि आगन्तुक लोगों मे से बहुत से व्यक्तिगत रूप मे डॉ० सत्यपाल की उपस्थिति मे दिलचस्पी ले रहे हैं।

लगभग आधे घटे तक उद्घाटन से पहले की औपचारिकताएँ चलती रही। श्री यदुवशी ने शुरू मे सगोष्ठी के उद्देश्य और उसकी योजना पर प्रकाश डाला, उसके बाद वे अनेक सदेश और शुभकामनाएँ प्रकट करने वाले वक्तव्य पढ गये, जो देश के मान्य नेताओं एवं विद्वानो से प्राप्त हुए थे। पश्चात्, अध्यक्ष से सकेत पाकर, डॉ० सत्यपाल ने अपना भाषण प्रारम्भ किया।

उद्घाटन-भाषण मे देश के आवेगात्मक एकीकरण की विशेष चर्चा की गई। यहाँ यह जोड़ दिया जाए कि स्वय वक्ता की भाषा विशेष आवेग-पूर्ण न थी। डॉ० सत्यपाल बहुत-कुछ निरुद्वेग, वैज्ञानिक ढग से बोल रहे थे। यह दूसरी बात है कि वक्तव्यो मे विशेष नयापन नही था। वक्ता ने राष्ट्रभाषा की आवश्यकता और उसका स्तर ऊँचा करने की ज़रूरत पर भी गौरव दिया। और भी दो-चार बातें—जिनके बारे मे इधर अखबारों मे आयेदिन चर्चा होती रहती है। हॉल मे पूरी खामोशी थी। आगे की कतारों मे बैठे कुछ लोग समय-समय पर मुस्कराकर और कभी-कभी धीमी हँसी हँसकर वक्ता के प्रति अपनी प्रशसा प्रकट कर रहे थे। धीरे-धीरे, जैसे-जैसे भाषण का समय-विस्तार बढ़ता गया, वे मुस्कराहटें और हँसियाँ क्रमशः विरल और फीकी पड़ने लगी। ज़ाहिर ही श्रोता लोग भाषण से ऊबने लगे थे।

मेरे पास अमिता बैठी थी—या यह कहिए कि मैं, काफ़ी देख-परख कर, अमिता की बगल में जाकर बैठ गया था। डॉ० सत्यपाल का भाषण सुनते समय वह विशेष ऊब महसूस करती जान पड़ रही थी। भाषण से पहले, हम लोगों के बीच हुई सक्षिप्त बातचीत के सिलसिले में, वह और मैं एक-दूसरे से सुपरिचित हो चुके थे। भाषण के दौरान मे अमिता और मैं दोनो ही एक तरह की ऊब मे सहभोगी थे। यो, विशेषतः भाषण के बाद के हिस्से मे, सारे ही श्रोता ऊब की भावना से परेशान महसूस कर रहे थे। भाषण का काफी अश सुनने के बाद अमिता ने अधीरज भरे क्षोभ से मेरी ओर मुखातिब होकर कहा, 'अजीब वक्ता हैं भाई, ठीक उन बातों को दोहरा रहे हैं, जो रोज-रोज अखबारो मे निकलती हैं। और ऐसे लोगों को उद्घाटन के लिए बुलाया जाता है।'

मैंने तहेदिल से उसकी बात का समर्थन किया। (यों भी, जैसा कि आप जानते है, महिलाओं के, विशेषत: आकर्षक व्यक्तित्व वाली महिलाओं के, वक्तव्य का समर्थन करना मेरी व्यक्तिगत आचार-संहिता का सामान्य और महत्त्वपूर्ण नियम है।) अमिता देखने में विशेष बौद्धिक, बड़ी सजीव और खासे आकर्पक व्यक्तित्व से सम्पन्न महिला है। भरा हुआ ओवल चेहरा, चमकती आँखें और बातचीत मे सहज मुस्कराने वाले होंठ, जिन पर चाकलेटी लिपिस्टिक का शेड सफेद दाँतों की विषमता से विशेष आकर्षक लगता है। रंग खास उजला नहीं है, पर यह कमी विशिष्ट बौद्धिक दीप्ति की छाँह मे जैसे दीखती ही नहीं। माँसल किन्तु सुगठित जिस्म जिसमें गति और स्फूर्ति की कमी नहीं है। वैसे अमिता की सजीव गतिशीलता का प्रधान केन्द्र उसका चेहरा, यानी आँखें और होंठ हैं।

डॉ० सत्यपाल के भाषण मे ऐसी कोई चीज़ नही थी जिसे समझने के लिए विशेष ध्यान देना ज़रूरी होता, इसलिए मैं और अमिता बीच-बीच में एक-दूसरे से कुछ कहते-सुनते रहे। अमिता के पति राजस्थान सरकार के योजना-विभाग मे ऊँचे पद पर काम कर रहे हैं, खुद वह ग्वालियर में एक नये बनाये गए डिग्री कालेज की प्रिंसीपल है। इससे पहले वह दिल्ली में इन्द्रप्रस्थ महिला कालेज में अंग्रेज़ी विभाग में प्राध्यापिका थी। पता चला कि अमिता एक आठ-नौ वर्ष के होनहार पुत्र की माँ भी है। लेकिन इस तथ्य को कोई खास अहमियत नही देनी चाहिए। अमिता के भरे-पूरे व्यक्तित्व मे एक तरह का स्थिर आकर्षण है, और कभी-कभी जब वह उत्साह और प्रफुल्लता के मूड में मुक्त भाव से हँसती है, तो बहुत-कुछ बीस-बाईस वर्ष की लड़की-सी दीख पड़ती है। यों उसकी अवस्था तीस से ऊपर ही होगी। मुमकिन है उम्र मेरे बराबर हो, या साल-छह महीने कम।

समारोह खत्म होने पर हम-लोग उठकर बाहर की ओर चल रहे थे कि मुझे अस्थाना दिखाई पड़ा। वह संभवत: पीछे की एक कतार में बैठा था। मैंने उससे सम्पर्क करने की कोशिश की, पर उसका ध्यान किसी दूसरी तरफ था। कुछ देर को, उठकर आगे बढ़ती हुई भीड़ में, वह मेरी आँखों से ओझल हो गया। स्वभावत: इससे मुझे परेशानी हुई। अमिता ने जो मेरे साथ-साथ चल रही थी, अकस्मात् कुछ कहा। उसकी बात को न समझते हुए

'एक्सक्यूज मी (क्षमा कीजिए) मुझे एक व्यक्ति से सम्पर्क करना है' कहकर मैं तेजी से वाहर की ओर बढ गया। वहाँ मैंने अस्थाना को डॉ० सत्यपाल की कार के पास खडे देखा। स्पष्ट ही डॉ० सत्यपाल उससे परिचित थे। उन्होंने उसके कधे पर हाथ रखकर कुछ शब्द कहे; तुरन्त ही वह किसी दूसरे व्यक्ति से वात करने लगे। शीघ्र ही मैं अस्थाना की वगल मे पहुँच गया। अस्थाना ने मुझे देखा, पर जैसे मेरी ओर ध्यान नही दिया। कुछ ही क्षण वाद, डॉ० सत्यपाल की कार के चल देने पर, उसने घूमकर मेरी ओर देखा और वड़े तपाक से 'हल्लो निगम' कहते हुए मेरा हाथ अपने हाथों मे ले लिया।

'मुझे सख्त अफसोस है, निगम, कि कल तुम मुझे घर पर न पा सके। वात यह है कि···अच्छा सुनो, कल तुम रेडियो स्टेशन आ रहे हो न ?'

'इस वक्त तुम्हारा क्या प्रोग्राम है ?' मैंने उसकी व्यस्तता ताड़ते हुए पूछा।

'इस वक्त,' अस्थाना ने अपनी घडी पर नजर डालते हुए कहा, 'यार वात यह है कि इस वक्त मुझे तुरन्त कनाट प्लेस पहुँचना है, वहाँ एक दोस्त मेरा इन्तजार कर रहा होगा। ऐसा करो, कल नही परसो दो और तीन के बीच मे तुम रेडियो स्टेशन चले आओ; वही जमकर वाते होंगी। ठीक है न ?'

'ठीक है, परसों दो और तीन के बीच मे।'

'ओ० के०,' कहकर अस्थाना तेज़ी से गेट की ओर वढ़ा और भीड़ मे खो गया।

मैंने इधर-उधर नजर डालकर अमिता को खोजने की कोशिश की, पर उसका कही पता न था। क्रमश: छँटती हुई भीड़ के साथ मैं भी गेट की ओर चल पड़ा।

× × ×

रीगल सिनेमा, टी-हाउस। मैंने सुन रक्खा है कि यह जगह दिल्ली की साहित्यिक जिन्दगी का केन्द्र है। वहुत वडा हॉल, अपने कॉफी-हाउस से दुगुना-तिगुना। मुझे हॉल का यह आकार-प्रकार विल्कुल ही पसद नही है। अपना कॉफी हाउस भी उतना छोटा नही, लेकिन वहाँ किसी भी कोने में

बैठकर आप करीव-करीव दो तिहाई हिस्से पर नजर रख सकते है। मै कोने वाले वुक-स्टाल पर रुककर खड़ा हो जाता हूँ, यह तय न कर पाते हुए कि इतने भीमाकार हाल मे किधर वैठूँ। वुक-स्टाल छोटा है, किन्तु सुरुचिपूर्ण जान पडता है। और वह सिर्फ वुक-स्टाल ही नही, कुछ खाने-पीने की चीजे भी वहाँ दिखाई पड़ रही है। एनकाउण्टर? ताज्जुव है कि इस छोटे-से वुक-स्टाल पर एनकाउण्टर जैसी 'हाइव्राउ' पत्रिका के इतने अक दिखाई पड रहे है। मुझे यह स्वीकार करने मे तनिक सकोच नही है कि मै इस पत्रिका से विशेष प्रभावित हूँ। जर्नेलिज्म? जी हाँ, लेकिन कितनी अप-टु-डेट और सटीक किस्म की। अजय को भी मानना पडता है कि एनकाउण्टर का स्तर साधारण से कही ऊँचा है। जहाँ तक अपने देश का सवाल है, अभी हम इस स्तर से मीलो दूर है। मैने एक वार अजय से कहा, जर्नेलिज्म भले ही हो, पर इगलैण्ड के लगभग सभी वड़े लेखक और वडे-वडे प्रोफेसर एनकाउण्टर मे लिखते है. स्टीफेन स्पेडर, डब्ल्यू० एच० आडेन, सी० पी० स्नो, वगैरह-वगैरह। और तुम, मै कभी-कभी चिड़चिडाहट का अभिनय करते हुए कहता हूँ, तुम जो हमेशा शाश्वत या स्थायी मूल्यो के पीछे पड़े रहते हो, कभी एनकाउण्टर के लेखकों के वरावर प्रसिद्धि नही पा सकोगे; जी हाँ, न विचारक के रूप मे, न नाटककार के। अजय हँस देता है। कहता है, 'जव समयदेवता फिर से निकलने लगेगी और उसका स्तर एनकाउण्टर से होड लेने लगेगा, तव···क्या तुम इतना भी नही करोगे कि मुझे स्पेडर और स्नो की जैसी ख्याति दिला दो?' इधर मै काफी दिनो से सोचता रहा हूँ कि समय देवता को फिर से प्रकाशित किया जाए। पत्रिका के सम्पादन में मुझे सदा से दिलचस्पी रही है; मेरा अनुभव है कि ज़िम्मेदारी से एक आधुनिक भाववोध वाली पत्रिका का सम्पादन करना लेखक के विकास की जरूरी शर्त है। देखिए न, इधर हिन्दी मे कितनी पत्रिकाएँ निकल रही है। हाँ, लेकिन उनमे कितनो का कोई स्टैण्डर्ड (स्तर) है? इस लिहाज से समय देवता का (जैसा कि मैं अजय को समझाता हूँ) अपना निजी व्यक्तित्व था, एक स्तर था, और एक दृष्टि। ऐसा नही कि इधर जो पत्रिकाएँ निकल रही है वे, यानी उनके सम्पादक, दृष्टि-हीन है; लेकिन, जैसा कि मै अजय से कहता हूँ, उनकी सवसे वडी कमी स्तर की कमी है।

'किन्तु उनमे एकदम नया, यानी आधुनिक और ताजा, भाववोध है', अजय संजीदा स्वर मे कहता है। 'और,' वह छेड़ने के अंदाज मे जोड़ता है, 'आधुनिकता और स्तर दो विरोधी चीजे है।' इस वारे में, जैसा कि अजय अच्छी तरह समझता है, उसके और मेरे वीच गहरा मतभेद है। अजय का खयाल है कि सचमुच वडा लेखक इतिहास की जटिलताओ और परम्परा की गहराइयो से परिचित होता है, कि वड़े साहित्य में जिस मनुष्य का चित्रण होता है उसके उलझे हुए मन और दिमाग की जानकारी ऐतिहासिक अभिव्यक्तियों से किनारा करके नही पाई जा सकती, कि सिर्फ आस-पास की जिन्दगी को देखकर लिखा जाने वाला साहित्य सतही और छिछला होता है, कि···वगैरह-वगैरह।

अजय अक्सर ऐतिहासिक विपयों और पात्रो को लेकर नाटक लिखता है। मैंने एक दिन उससे सजीदगी से कहा, 'महाशय अजय, यह वेईमानी है, और युग के साथ गद्दारी। आखिर ऐतिहासिक पात्र चुनने का मतलव क्या है? क्या अपने युग मे काफी सख्या मे रोचक स्त्री-पुरुप नही हैं? फिर···?' अजय पर, जाहिर ही, मेरे तर्क का कोई असर नही होता। वह मेरे साथ की हुई वातचीत के वावजूद फिर ऐतिहासिक पात्र (और कथानक) चुनता है, और फिर···नतीजा यह कि इधर उसके लिखे नाटको की सख्या तेजी से वढने लगी है। उसका विचार है कि उसके ऐतिहासिक पात्र भी आज के युग और मनुष्य को अभिव्यक्ति देते है—यानी दे सकते है। इसके विपरीत मैं यह मानता रहा हूँ कि मेरे आज के युग और उसके मनुष्य का स्वभाव और चरित्र एकदम अलग यानी अद्वितीय है, इसलिए उसके उद्घाटन का माध्यम ऐतिहासिक पात्र नही हो सकते।

तो, टी-हाउस के वुकस्टाल की जाँच-परख करके मैं वहुत प्रभावित हुआ। विशेपत. एनकाउण्टर की मौजूदगी से। मैंने मन-ही-मन सकल्प किया कि लौटकर मुझे निश्चय के साथ समयदेवता को फिर से निकालना है।

एकाएक मेरी नजर वुकस्टाल के दाहिनी ओर स्थित एक मेज की ओर गई। वहाँ दो दूसरे साथियो के साथ एक परिचित चेहरा दिखाई दिया—वीरेन्द्र शुक्ल का। मै उधर वढ़ गया और जाकर वीरेन्द्र को

सम्बोधित किया। लमहे-भर को ठिठककर वीरेन्द्र ने पहचानते हुए मुझे 'हलो' कहा और दूसरे साथियो से मेरा परिचय कराया। परिचय के दौरान मे यह भी उल्लेख किया कि मैं कुछ वरस पहले एक पत्रिका निकालता था, समयदेवता। मुझे यह जानकर आश्चर्य और खेद हुआ कि वीरेन्द्र के दोनो साथी, यानी राकेश गुप्त और हरीश द्विवेदी, समयदेवता के नाम तक से परिचित न थे। जी हाँ, सिर्फ दो-तीन वरस पहले तक समयदेवता निकलती थी और हिन्दी-जगत् मे, जैसा कि उसके सम्पादक और हितैषी लेखको का विश्वास था, उसकी खासी धाक थी। आप कल्पना कर सकते है कि मुझे यह जानकर कैसा धक्का लगा होगा कि पिछले साल डेढ साल से लिखना शुरू करने वाले राकेश और हरीश जैसे लेखक समयदेवता के भूतकालिक अस्तित्व से एकदम ही नावाकिफ थे। ज्यादा आश्चर्य की बात यह थी कि खुद वीरेन्द्र ने, जैसा कि उसकी वातचीत से जाहिर था, आज से पहले कभी अपने इन साथियो से समयदेवता का जिक्र नही किया। यहाँ आपको मै वतला दूं कि वीरेन्द्र शुक्ल ने अपनी कविताओ का प्रकाशन प्रायः समयदेवता के जन्म के साथ-साथ ही किया; और आज उसकी जितनी कुछ ख्याति है उसका वहुत-कुछ श्रेय समयदेवता को है। इसके वावजूद उसने यह उचित नही समझा कि अपने राकेश और हरीश जैसे साहित्यिक मित्रो के वीच कभी हमारी पत्रिका का जिक्र करे। मुझे लगा कि यह वीरेन्द्र की गद्दारी थी। मुझे यह भी आभास हुआ कि दिल्ली के लेखक, खासतौर से इधर के लेखक, उत्तर प्रदेश के किसी शहर से निकलने वाली पत्रिका के अस्तित्व और जीवन-यात्रा को कोई खास महत्त्व नही देते।

वीरेन्द्र ने राकेश और हरीश का विशेष परिचय देते हुए कहा—इधर ये लोग एक नया पत्र निकालना चाह रहे है 'अकवि'

'अकवि,' मैने दोहराते हुए कहा, 'नाम वेजा नही है; अगरचे···क्या मैं जान सकता हूँ कि इस पत्र की विशेष नीति क्या होगी?'

'अभी हम लोगो ने अपनी नीति का कोई घोषणा-पत्र जारी नही किया है,' राकेश ने कहा। 'हम चाहते है कि पहले हम अपनी काफी कविताएँ प्रकाशित कर लें, उसके सैद्धान्तिक आधार को स्पष्ट करने का प्रयत्न वाद में करेगे।'

'फिर भी···' मैने ऐसे अन्दाज से कहा जैसे मै जानता होऊँ कि 'अकवि'

के सम्पादन के पीछे एक निश्चित दृष्टिकोण का होना जरूरी और अनिवार्य था। साथ ही मेरे स्वर मे सन्देह का भाव भी था—जैसे मुझे ठीक-ठीक विश्वास न हो कि 'समयदेवता' और उसके प्रख्यात सम्पादक के वैचारिक दायरे के बाहर, कोई लेखक-सम्पादक किसी नये व आधुनिक सिद्धान्त की परिकल्पना कर सकता है।

राकेश ने ऐसा कोई उत्तर नही दिया। हरीश ने कहा, 'समझ लीजिए कि हमारा कविता-सम्बन्धी दृष्टिकोण छायावाद का ठीक उलटा है। छायावाद-युग मे कविता से जो समझा जाता था और उसकी जो विशेषताएँ होती थी, उस सबका पूरा-पूरा निषेध करना ही 'अकवि' का और हमारा उद्देश्य कहा जा सकता है।

इस बीच मे मैंने अपना सिगरेट-केस बाहर निकाल लिया था। एक सिगरेट निकालकर होंठों से चिपकाते हुए मैंने तीनो साथियों की ओर सिगरेट केस बढाया। हरीश और वीरेन्द्र ने सिगरेट ली, ज्ञात हुआ कि राकेश गुप्त सिगरेट नही पीते। 'निगेटिव डेफ़िनिशन', मैंने कुछ ऐसे भाव से कहा जैसे निषेध-मूलक परिभाषा देना तर्कशास्त्रीय दोष भर न होकर कोई अपराध हो। मैने वीरेन्द्र और हरीश के बाद अपनी सिगरेट सुलगा ली थी, और अब इत्मीनान से नाक और मुँह से धुआं छोड रहा था। कुछ देर मेज पर पूरी खामोशी रही। लगा कि मेरी बात सम्पादको के दिल और दिमाग तक पहुँच गई है। मौके से फायदा उठाते हुए, और शायद अपना रौब गालिब करने की प्रच्छन्न इच्छा से, मैंने एक लम्बा कश खीचकर वीरेन्द्र की दिशा में देखते हुए कहा, 'इधर इरादा हो रहा है कि 'समयदेवता' फिर से निकाली जाए।'

'सच ?' वीरेन्द्र ने एकाएक अपनी नजर मेरे चेहरे पर जमाते हुए कहा। स्पष्ट ही उसकी दृष्टि मे मेरा महत्त्व एकदम बढ गया था। देखा गया कि 'अकवि' के उदीयमान सम्पादक भी मेरी इस सूचना से प्रभावित हुए।

'आप जानते है कि पहले पत्रिका को क्यो बन्द करना पडा था ?—यह बात (राकेश और सतीश की ओर इशारा करते हुए) आप लोगो को भी याद रखनी पडेगी। असल मे कोई भी पत्रिका खासकर एक साहित्यिक

पत्रिका, सिर्फ ग्राहक-सख्या के वल पर नही चल सकती। 'समय देवता' की काफी प्रतियाँ उत्तर प्रदेश की सरकार द्वारा खरीदी जाती थी। कुछ कारणों से सरकार ने पत्रिका लेनी वन्द कर दी, जिसका नतीजा यह हुआ कि पत्रिका मे लम्वा-चौड़ा घाटा होने लगा और कुछ दिनों वाद उसे वन्द कर देना पडा। दरअसल कोई भी पत्रिका विना विज्ञापनों के नही चल सकती; इस वार हमने ऐसा प्रवन्ध किया है कि हमे नियम से विज्ञापन मिलते रहें।'

उधर वैरा चाय का पॉट लाया और इधर एक पिछले खेवे के लेखक—श्री रजनीश ने हमारी मेज पर पदार्पण किया। राकेश और सतीश ने उसका स्वागत किया। वीरेन्द्र ने उन्हे मेरा परिचय दिया। 'ओहो! आप निगम साहब है, बड़ी खुशी हुई आपसे मिलकर। नाम तो वहुत पहले सुना था, लेकिन मुलाकात शायद आज पहली वार हो रही है।' 'आप पहले 'समय-देवता' 'नाम की पत्रिका निकालते थे,' वीरेन्द्र ने कहा। 'हाँ, याद आया; वह पत्रिका मैने वहुत पहले देखी थी। अच्छी निकलती थी।'

'हम 'समयदेवता' को फिर जारी करने की योजना वना रहे हैं', मैंने जैसे अपने महत्त्व की ताजी सूचना देते हुए रजनीशजी को प्रभावित करने का उपक्रम किया।

'वहुत अच्छी वात है, वहुत वढ़िया खवर है; आप 'समयदेवता' को अवश्य फिर से निकालें। मुझसे जो हो सकेगा सहयोग दूँगा।'

'जरूर, आपसे पहले भी सहयोग मिलता रहा था।'

चाय खत्म हो चुकी थी। रजनीशजी ने जैसे अपना वड़प्पन ज़ाहिर करते हुए कहा—'एक-एक प्याला कॉफी और हो जाए।' कहते हुए उन्होंने वैरा को आवाज लगाई। मेरे प्रतिवाद करने पर उन्होने कहा—'अभी तो कॉफी आने मे वहुत देर लगेगी, तव तक आपकी इच्छा होने लगेगी।'

फिर 'अकवि' को लेकर वातचीत होने लगी। जान पड़ा कि रजनीश 'अकवि' पत्रिका के प्रवल पोषकों और स्तम्भो में है। मुझे आभास हुआ कि 'अकवि' लेखकों के चन्दे से चलेगा और उसे आर्थिक सहयोग देने वालों में रजनीश भी है। 'अकवि' की नीति समझाते हुए उन्होने कुछ इस तरह शुरू किया—इन लोगों का खयाल है कि···

'मै न सिर्फ 'अकवि' की नीति का विरोधी नही हूँ, वल्कि उसके

सहानुभूति भी रखता हूँ', मैने संभाव्य गलतफ़हमी का बचाव करते हुए कहा। 'लेकिन···' और उस समय, मैंने ताज्जुब से देखा, मेरी जुबान पर वैसी वाते आने लगी जैसी कि मेरा मित्र अजय किया करता है। मजे की वात यह कि खुद अजय के सामने मैं अक्सर उसके विचारो का विरोध ही करता हूँ। मिसाल के लिए उसका यह कहना कि—आन्दोलन कोई हो, उसे कोई भी नाम दिया जाए, लेकिन उसके पीछे ऊँची कोटि के और गम्भीर चिन्तन का वल रहना जरूरी है। मुझे लगा कि 'अकवि' के सहयोगी और सम्पादक लोग व्यक्ति-विशेष के चिन्तन को नही वलिक एक समूह की आस्थाओ या भावनाओ को सम्वल वनाकर चलना चाह रहे थे। जैसा कि मैंने अभी इशारा किया, मैंने इस वात पर जोर दिया कि 'अकवि' के आन्दोलन के पीछे एक सुचिंतित साहित्य-दर्शन या दृष्टि का होना जरूरी है। इस तरह का जोर देने का मनोवैज्ञानिक कारण शायद यह था कि मैं 'अकवि' वाद से सहानुभूति रखते हुए भी, उसको लेकर कोई नई वात कहना चाहता था। चूँकि सहसा मुझे कोई नई वात सूझ नही पड़ी, इसलिए मैंने अपने दोस्त अजय के मुँह से सुनी वात दुहरा दी। अवश्य ही अजय ने अपनी यह राय यूरोपीय साहित्य के कुछ आन्दोलनो का इतिहास पढकर वनाई होगी। यो ईमानदारी की वात यह है कि मुझे इस स्थिति ने काफी प्रभावित किया कि राजधानी के कई नवयुवक साहित्यकार मिलकर वातो-वातो मे एक नया आन्दोलन खडा कर दे सकते है।

लेकिन, 'अकवि' आन्दोलन के प्रवर्तको और समर्थको के वीच मूलतः रूमानी लेखक रजनीश की स्थिति मुझे कुछ वेतुकी लगी। शुरू मे रजनीश एक पुराने यानी प्रयोगवाद के आन्दोलन का अग वनकर आए थे; उस वक्त भी वे अपने साथियो की तुलना में ज्यादा भावुक और रूमानी समझे जाते थे। दरअसल रजनीश की अव तक की सवसे अच्छी रचनाएँ रूमानी रचनाएँ ही है। किन्तु अव अपने और अपने काव्य के स्वभाव और खसलत की बिल्कुल ही परवाह न करते हुए, वे एक नये दल मे शामिल होना चाहते है, शायद इसलिए कि इस तरह उनकी तेजी से उतार पर चलती हुई प्रसिद्धि को नया सहारा मिलेगा। मुझे रजनीश की दयनीय स्थिति पर खेद हुआ।

टी हाउस से निकलकर थोड़ी देर वाद वीरेन्द्र और मैं अकेले रह गए। वीरेन्द्र ने सीरियसली यह निश्चय किया था कि वह मुझे अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र तक छोडने चलेगा, या कम-से-कम ओवेराय होटल तक जहाँ से अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र करीव रह जाता है। ओवेराय होटल में उसे अपने किसी वाहर से आये सम्वन्धी से मिलना भी है। वस में बैठे हुए रास्ते में अकस्मात् सेठ का, और साय ही मोहिनी और विमला का जिक्र आ गया। जिन दिनो सेठ और विनला का रोमांस शुरू हुआ था उन दिनों वीरेन्द्र लखनऊ मे ही था। वह विमला से अच्छी तरह परिचित था। उसे यह खवर पाकर कि सेठ ने विमला को छोड़ दिया है, वड़ा धक्का लगा था। तुरन्त ही उसने इसकी कोशिश शुरू की कि विमला को कही काम मिल जाए। विमला इस समय दिल्ली में है और एक मामूली स्कूल मे पढाती है। खर्च ज्यादा करने की आदत पडी हुई है और इस वक्त उसकी आमदनी वहुत कम है, सिर्फ एक सौ पिचहत्तर रुपये प्रतिमास। उस पर दिल्ली जैसा शहर। वेचारी वड़े कष्ट मे है। 'पहले से रंग-रूप इतना वदल गया है कि आपको शायद पहचानने मे भी कठिनाई हो।··· आपका अस्थाना से अच्छा परिचय है; आप उनसे कह दें और वे चाहे तो उसे टी० वी० विभाग मे कुछ काम दे सकते है। थोडी-वहुत अभिनय की योग्यता विमला दीदी मे है; स्कूल और कालेज के दिनो मे वे एकांकी नाटकों में भाग लेती रही।' वीरेन्द्र ने मुझे विमला का ठीक-ठीक पता भी बतलाया। मैंने उस पर प्रकट किया कि मैं जरूर-जरूर अस्थाना से वात करूँगा और विमला से मिलने की कोशिश भी करूँगा।

वीरेन्द्र से विदा होते हुए मैंने निजी आत्मीयता के स्वर मे उससे कहा, 'भाई वीरेन्द्र, मेरे दिमाग मे एक विचार आया, तुम उसे अपने साथियों के साथ 'डिस्कस' करना। 'अकवि' के वदले पत्रिका का नाम 'असन्दर्भ' ज्यादा उपयुक्त होगा···छायावाद के विरोध वाली वात उतनी जँचती नही। आज हमारे जीवन और काव्य की सवसे वडी सचाई है—सन्दर्भहीनता। अगर मुझे 'समय देवता' नाम का मोह न होता—दूसरे उस नाम की कुछ 'गुड-विल' के रूप मे भी कीमत है—तो मैं अपनी पत्रिका को यही नाम देता, 'असन्दर्भ'।'

सुवह नौ वजे नाश्ता। टेविल पर अमिता से साक्षात्कार। वह अँग्रेजी मे

कहानियाँ लिखती है, और कभी-कभी लेख—'इलस्ट्रेटेड वीकली', 'इम्प्रिण्ट' आदि में। कविताएँ नही। हिन्दी समझ लेती है, पर उसमे लिखने लायक आत्मविश्वास नही। 'ओह नहीं, अभी हिन्दी राष्ट्रभाषा नही बन सकती··· बहुत ज्यादा पीछे है, है न? कविता कहानी आदि की बात मैं नही कहती, पर विचार-साहित्य यानी विज्ञान···आपका क्या खयाल है?' अमिता ठेठ अँग्रेजी मे बोलती है। सुन्दर यानी सही एक्सेन्ट। स्पष्ट ही उसकी शिक्षा अँग्रेजी स्कूल-कालेजों मे हुई है। बोलने के साथ इस तरह मुस्कराती है कि आपका उससे सहमत होने को जी चाहे।···

सेमिनार की पहली बैठक। देश के आवेगात्मक विघटन के कारणों और ऐक्य के तरीकों की खोज। महाराष्ट्र के गणपति घोरपदे का संस्कृत और सस्कृति पर गौरव। सस्कृति यानी पुरानी आस्थाएँ और मूल्य। अपने पांडे जी द्वारा थोड़े सशोधन के साथ समर्थन, सस्कृत नही, राष्ट्रभाषा हिन्दी। देखता हूँ उनका यहाँ आना सार्थक हो रहा है। अमिता ने मेरी ओर अरुचि-सूचक नजर डाली। मैंने मुस्करा दिया, मानो इस भाव से कि ये सब प्रारम्भिक बातें है, स्थूल पूर्वपक्ष, जिस पर विशेष ध्यान देना अपेक्षित नहीं है। एक अन्य प्रतिनिधि प्रथम वक्ता का और अशतः पांडेजी का समर्थन कर रहे हैं। देखता हूँ यहाँ परम्परावादियों की लम्बी सख्या मौजूद है। शायद नही, अलीगढ के प्रतिनिधि कुछ भिन्न बात कह रहे है· देश की एकता का आधार सस्कृत और हिन्दू सस्कृति नही हो सकते, देश मे मुसलमान भी हैं। अमिता सिर हिलाकर समर्थन कर रही है। अब समय आ गया है कि मैं कुछ कहूँ, मुझे कुछ कहना ही चाहिए। लेकिन यह क्या—कलकत्ता के एक सज्जन खडे होकर विज्ञान-युग और वैज्ञानिकता का हवाला दे रहे हैं। अफ-सोस, यह सब तो मुझे कहना चाहिए था। एक सुनहरा मौका हाथ से निकल गया। अब ज्यादा-से-ज्यादा यह कि मैं उठकर समर्थन कर दूं। तय हुआ है कि प्रत्येक बैठक की रिपोर्ट तैयार की जाएगी; सोचा जा रहा है कि सेमि-नार मे होने वाले विचार-विमर्श का सारांश पुस्तिका के रूप मे प्रकाशित किया जाए। रिपोर्ट चार व्यक्ति तैयार करेंगे, दो-दो साथ मिलकर। मुझे अमिता के साथ रिपोर्ट तैयार करनी है; मैं प्रसन्न हूँ।

अमिता मेरे कमरे मे। एक नई किस्म का अनुभव। लिखने का काम

वही कर रही है—कुछ उसने पहले ही लिख रखा है। व्यक्त किये गए अधिकांश विचारो और तर्कों और उनकी अपेक्षित अहमियत के बारे मे हम दोनो मे आश्चर्यजनक साम्य है। अमिता आँखे उठाकर मेरी राय पूछती है, फिर लिखने लगती है। कभी-कभी उसके लिखने के क्षणों में मैं विभिन्न वक्ताओं और उनके विचारों पर टीका-टिप्पणी करता हूँ, जो प्रायः अमिता को पसन्द पड़ता है। लेकिन उसे ज्यादा चिन्ता इस बात की है कि रिपोर्ट सही हो। पहले काम सौ प्रतिशत कुशलता यानी यथातथ्य चौकस रिपोर्ट। ओवल चेहरा और गोल-सा मुँह जो बार-बार उठकर तथ्यो को स्थिर करने के लिए मुझसे प्रश्न व सक्षिप्त बातचीत करता है। और कोई बात नही हो रही, फिर भी मुझे लग रहा है मानो हम दोनो के बीच एक तरह की एकता स्थापित हो रही है। एक नया-निराला अनुभव या एक काफी पुराने अनुभव की आवृत्ति। कालेज की परिषद् की कार्यकारिणी की बैठक मे कभी-कभी सरोज और मैं निकट होकर सक्षेप मे काम की बात कर लेते थे, लेकिन वैसी बातचीत के लिए वहाँ सीमित अवसर ही होता था। कमरे के एकान्त मे अमिता के साथ उस तरह का अनुभव ज्यादा बड़े अनुपात मे मिल रहा है—वैसे क्षणों का दीर्घीकृत फैलाव। दिलचस्प लगते हुए भी यह अनुभव पूरा-पूरा मेरी समझ में नही आ रहा है, फलतः मैं उसे ठीक से जी नही पा रहा हूँ। मुझमे एक तरह की बेचैनी की वृत्ति उग रही है। मैं चाहता हूँ यह एकरसता की स्थिति बदले—और कुछ तीखा व तेज घटित हो। लेकिन अमिता स्पष्ट ही सन्तुष्ट और तत्पर है—वह तत्परता से रिपोर्ट बना रही है। इस दौरान में वह मेरी ओर रुचिपूर्ण नजर डालना भी जरूरी नही समझती। मुझे उसका यह व्यवहार—इस तरह तल्लीन होकर काम में जुटना—अस्वाभाविक जान पड रहा है।

रिपोर्ट पूरी करने के बाद अमिता कुछ मिनट कमरे मे रुकी थी। मुझे धन्यवाद दिया था। फिर हम निकलकर गैलरी में पहुँच गये थे। वहाँ थोड़ी देर ठिठककर वह औपचारिक ढग से विदाई लेकर चली गई थी।

आज की शाम संगोष्ठी की विराम-बेला थी। लच डेढ बजे ही खत्म हो गया। मैं अमिता के साथ एक मेज़ पर न बैठ सका। वह कुछ पहले

पहुँच गई थी और जिस मेज पर बैठी थी वह भर चुकी थी। मैं दूसरी मेज पर अन्य साथियो के साथ बैठा, इस तरह कि अमिता दिखाई देती रहे। वह बडे आत्मविश्वास से पुरुपो के बीच बैठती है, लगातार हँसती, मुस्कराती, बाते करती हुई। जान पडता है जैसे वह स्वभावत: सबसे घुली-मिली हुई है। एक और महिला उसी मेज पर है, उससे कुछ ज्यादा उम्र की। चेहरा सुघर है, पर वहाँ अमिता की जैसी लुनाई नही है। मैं प्रतीक्षा करता रहा कि अमिता एकाध बार मेरी ओर देखे, पर वैसा कुछ नही हुआ। मुझे कुछ निराशा थी, पर साथ ही यह सन्तोप भी कि मैं उसकी ओर देख सकता था।

रेडियो स्टेशन। अस्थाना का कमरा अलग है, पर साहब वहाँ है नही। मुझे गुस्सा लग रहा है। दुष्ट कही का, कभी हाथ ही नही आता। पडोस के कमरे के एक साहब उठकर आये है; अस्थाना की मेज का निरीक्षण कर रहे है, 'यही कही होंगे, मेज पर फाइल खुली रखी है।' उनके अन्दर घुस जाने पर एक दूसरे साहब उठ आये हैं। कह रहे है, 'भई, उनका ठिकाना नही, किसी लडकी को चाय-वाय पिलाने ले गये होगे। आपने फोन पर अपाइण्टमेण्ट किया था?' 'जी नही···जी हाँ, कल मैंने व्यक्तिगत रूप में उनसे कह दिया था कि दो-तीन के वीच मे पहुँचूंगा।' 'तो फिर आते ही होगे, आप वैठकर इन्तजार करे।' 'जी, फाइल खुली रखी है, यही-कहीं होगे।' वे मुस्कराकर कह रहे है। 'फाइल का खुला होना कोई खास माने नही रखता, यह तो उनका तरीका है। कभी-कभी तो इस तरह फाइले और कमरा छोड़कर आप कनाटप्लेस तक का चक्कर काट आते है।' मैं वक्ता का पान से रचा मुँह देखता हूँ, यह तय करने के लिए कि वे कहाँ तक संजीदा और विश्वसनीय है। फिर मैं भी मुस्करा देता हूँ, यह प्रकट करने के भाव से कि मैं अस्थाना को उनसे कम नही जानता।

ठीक सवा-तीन वजे अस्थाना कमरे मे आया, व्यस्तता और जल्दवाजी का भाव लिये हुए। मै आशा कर रहा था कि उसके साथ कोई लडकी होगी, पर वह अकेला ही था। तपाक से हाथ झकझोरते हुए बोला, 'मुझे अफसोस है कि मैंने तुमसे इन्तजार कराया। लेकिन तुम अच्छे मौके पर आए हो; चार वजे से एक रिहर्सल होने वाला है, उसे देख सकोगे।'

रिहर्सल के कमरे में जाने के लिए 'पास' जरूरी है, प्रधान प्रोडयूसर का यह आदेश है। स्पष्ट ही अस्थाना के मन में प्रधान प्रोडयूसर के प्रति भय-मिश्रित आदर का भाव है। यों प्रधान प्रोड्यूसर, जो उम्र में उससे ज्यादा वड़े नही हैं, अस्थाना को वहुत मानते है। सो सिर्फ उसकी योग्यता के कारण। सहायक प्रोड्यूसरों के वीच अस्थाना की रुचि और निर्देशन सवसे अधिक विश्वसनीय समझे जाते है। कई वार, प्रधान प्रोड्यूसर की अनुपस्थिति में, निर्देशन का भार अस्थाना को उठाना पड़ा है। इसलिए भी दूसरे सहायक प्रोड्यूसर उससे जलते है। लेकिन यह जलना वेकार है। योग्यता छिपी नहीं रहती, वह किसी के दवाये दवती भी नही। प्रधान प्रोड्यूसर यदि अस्थाना को ज्यादा मान्यता देते है तो यह कोई उस पर अहसान नहीं है। वात यह है कि हिन्दी के अधिकाश लेखकों की भाँति, इस देश के ज्यादातर नाट्य-निर्देशक और अभिनेता अतिरिक्त भावुकता का प्रदर्शन करते हैं। आज के उन्नत नाटक मे यह चीज नही चल सकती। श्री राजमणि दत्त (प्रधान प्रोड्यूसर) इस चीज को ठीक-ठीक नही समझते, इसीलिए मलिक उन पर भरोसा नही कर पाते। यहाँ तक कि नये अभि-नेताओ का चुनाव भी ज्यादातर अस्थाना को ही करना पड़ता है। जी हाँ, यह कोई मामूली काम नही है। अस्थाना के आने से पहले और वाद मे भी समय-समय पर यह काम दूसरे सहायकों को सौंपा गया है, लेकिन उनमे से कोई भी वॉस को पूरा-पूरा संतुष्ट नही कर सका। वतलाइये, अगर आप अभिनेताओ का ठीक चुनाव नहीं कर सकते, तो उनका सही निर्देशन क्या करेंगे ? पहले आपको यह जानना चाहिए कि आप अभिनेता से क्या चाहते हैं; उससे किस तरह की अभिनय की आशा करते हैं, तभी आप आगे कुछ कर सकते है। एक और बात। अभिनेता की छिपी हुई योग्यताओ का सही विकास वही निर्देशक कर सकता है, जो अभिनय के मूल तत्त्वो से परिचित है; अच्छे अभिनेता की दक्षता की ठीक-ठीक दाद भी वही दे सकता है। यही वजह है कि दिल्ली के अधिकांश जाने-माने अभिनेता अस्थाना के साथ काम करना पसन्द करते है, महत्त्वाकांक्षी नये अभिनेता भी उसकी ओर आकृष्ट होते है। यार लोग इस वात को लेकर कुढ़ते है, खास तौर से नयी आने वाली प्रतिभाओं, उनमें भी अभिनेत्रियों यानी लड़कियो को लेकर;

लेकिन मजबूरी है। अपने प्रतिस्पर्धियों को ओबलाइज (उपकृत) करने के लिए आप अपनी देखने और जाँचने की क्षमताओ को कुण्ठित नही कर सकते।

'और कहो, सेमिनार चलने लगा न? उद्घाटन का समारोह कैसा लगा?' अस्थाना ने सहसा बातचीत का विषय बदल दिया।

७ नवम्बर, '६८।

'समारोह बढिया ही था, लेकिन लोगो को उद्घाटन-भाषण खास पसन्द नही पड़ा। तुम्हारा तो डॉ० सत्यपाल से अच्छा परिचय जान पडता है?'

'परिचय? उससे कही ज्यादा। सत्यपालजी के परिवार से मेरा बहुत करीब का सम्बन्ध है।' कुछ रुककर कहा, 'असल मे बाबूजी को—मैं डॉ० साहब को बाबूजी कहता हूँ—इतने ज्यादा भाषण देने पड़ते है कि हमेशा ठीक तैयारी करके प्रभावशाली भाषण देना मुमकिन नही होता। फिर भी मै कहूँगा कि उनका भाषण बहुत अच्छा था, यह देखते हुए कि उन्हे उसकी तैयारी का बिलकुल ही मौका नही मिला था। मैंने सुझाया भी था कि वे अपना उद्घाटन-भाषण लिख डाले, लेकिन बाबूजी को यों ही मौखिक भाषण करना पसन्द है।'

'यदि भाषण बिना किसी तैयारी के दिया गया था तो मैं कहूँगा कि बहुत अच्छा था। डॉ० सत्यपाल सचमुच ही प्रभावशाली वक्ता है।' हूँ, वैसे वे कहते है कि वे मुख्यतः लेखक है।...'तुम्हे मालूम है हाल ही मे बाबूजी का एक उपन्यास प्रकाशित हुआ है 'राही और राहे', इधर दिल्ली के पत्रों मे उसकी चर्चा शुरू हो रही है। यह चर्चा वाजिब भी है, 'राही और राहे' सचमुच एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास है, इधर के उपन्यासों मे विशिष्ट। पढ़कर तुम खुद इस निर्णय पर पहुँचोगे। मैंने शशि से कह दिया है कि वह एक प्रति तुम्हारे पास भिजवा दे।'

कुछ रुककर अस्थाना ने कहा, 'दोस्त, एक रहस्य की बात है, अगर अपने तक सीमित रखने का वादा करो तो कहूँ...'

'अरे कहो न, ऐसी क्या बात है?'

'जानते हो तुम्हारी उत्तर प्रदेश अकादमी ने विशिष्ट साहित्यिक कृतियो पर हर वर्ष एक दस हजार का और दो पाँच-पाँच हजार के पुरस्कार

देने की योजना वनाई है; हम लोगों की इच्छा है पहला बड़ा पुरस्कार डॉ० साहव को मिले।'

'हूँ, यह उचित ही होगा। डॉ० पाल ने सचमुच ही हिन्दी की बड़ी सेवा की है। अव तक उनकी छोटी-मोटी बीस पुस्तके तो निकल ही चुकी होंगी?'

'वल्कि ज्यादा। तुम मानते हो न कि वावूजी को पुरस्कार मिलना चाहिए। अव मै तुम्हे एक खुशखबरी सुनाना चाहूँगा।'

मै प्रतीक्षा मे खामोश रहा।

'हम लोग कोशिश कर रहे है कि इन वडे पुरस्कारों के निर्णायको में तुम या तुम्हारे मित्र अजय इन दो मे से एक का नाम जरूर रहे।'

'लेकिन···कम-से-कम मै अभी अपने को उतना वड़ा और प्रसिद्ध लेखक नही समझता कि···'

यह सब वेकार बात है। यदि तुम प्रसिद्ध न होते तो यहाँ सगोष्ठी मे निमत्रित न होते। फिर, अरसे तक तुमने 'समयदेवता' का सम्पादन किया है।···हाँ, तुम 'समयदेवता' को फिर से चालू करना चाहते थे न, उसमें अड़चन क्या है?'

'चाहता जरूर हूँ। दोस्तो की भी राय है···खास तौर से जव से 'नवभारत' वाले उस लेख मे हाल की महत्त्वपूर्ण पत्रिकाओं मे 'समयदेवता' की गिनती की गई।'

'तो फिर?'

'अड़चन सिर्फ आर्थिक है; खतरा यही है कि कही फिर न घाटा देना पड जाए।'

'सो तो है···लेकिन मै वावूजी से जिक्र करूँगा। वे निश्चित ही तुम्हे कुछ सरकारी विज्ञापन दिला सकेगे।'

× × ×

विशाल वगला, एकदम आधुनिक किस्म का फर्नीचर। डिनर मे पच्चीस-तीस व्यक्तियो से कम न होगे, मुख्यतः पत्रकार और साहित्यिक। सवके मुँह पर डॉ० पाल के उपन्यास की चर्चा; वधाइयाँ। डॉ० पाल का विनम्र कृतज्ञता-प्रदर्शन। वड़ी तत्परता से आगन्तुकों से मेरा परिचय करा

रहे थे। परिचय कराते वक्त वे यह संकेत देना नही भूलते थे कि मैं 'समय-देवता' जैसी स्तरीय पत्रिका का सम्पादक रह चुका हूँ। मुझे अहसास हुआ कि दिल्ली के पत्रकारो के वीच मैं एकाएक प्रसिद्ध वना जा रहा हूँ।

डिनर मे एकदम आधुनिक होटल का जैसा खाना और प्रवन्ध; सूप, कटलेट, फिर सब्जियाँ, पुलाव आदि और अन्त मे फ्रूट क्रीम। प्रत्येक मेह-मान को 'राही और राहे' की एक प्रति भेट की गई। भेट करने वाले शशि और अस्थाना थे। लोगो की विदाई के वाद डॉ० पाल ने कुछ देर मुझसे वातचीत की। वातचीत के सिलसिले मे एकाएक अस्थाना को सम्वोधित कर कहा, 'निगमजी को उस रेडियो-चर्चा के वारे मे वतला दिया है?'

'ओह! वह तो मुझे भूल ही गया।···भाई निगम, परसो, नही नरसो, यानी १६ सितम्वर को तुम्हे रेडियो-स्टेशन चलना होगा—ठीक साढे चार बजे। पाँच बजे से 'राही और राहे' पर एक परिचर्चा हो रही है, उसमे तुम्हे भाग लेना है।'

'लेकिन मैने तो अभी उपन्यास पढा नही।'

'पढ़ लेना, अभी तो दो रोज का समय है। लेकिन परिचर्चा मे तुम्हारा रहना जरूरी ही है। कल तुम्हे रेडियो का निमत्रण-पत्र मिल जाएगा। और हाँ, तुम्हे जाना कव है?'

'जाना तो मैं परसों ही चाहता था।'

'कोई बात नही, एक दिन और रुक जाना।'

'आपको हमारे कालेज मे एक व्याख्यान भी देना होगा,' शशि ने मुस्कराते हुए कहा, 'इसका दिन और समय भी निश्चित करना है।'

'कौन-सा कालेज है आपका?' मैंने असमजस के भाव से पूछा। 'इन्द्रप्रस्थ कालेज फार वीमैन'·· हमारे यहाँ हिन्दी अध्यापिकाओ और लडकियो सभी की बड़ी इच्छा है कि आप आधुनिक साहित्य पर एक टॉक (व्याख्यान) दे।'

मुझे ताज्जुब था कि मेरी ख्याति इन्द्रप्रस्थ कालेज तक पहुँच चुकी थी। शशि ने बतलाया कि हिन्दी की प्रधान अध्यापिका, डॉ० शकुन्तला, जो विभाग की अध्यक्ष थी, इलाहावाद की पढी हुई है; वे 'समयदेवता' की नियमित पाठक रही थी और उससे वहुत प्रभावित थी।

'आपके व्याख्यान का विपय क्या रहेगा?' मेरे मौन को स्वीकृति मानते हुए शशि ने पूछा।

'सदर्भहीनता', मेरे मुँह से एकाएक निकला।

'जी ?'

'संदर्भहीनता : आधुनिक जीवन और साहित्य' मैंने खुलासा किया। विपय अस्थाना और शशि दोनो को वेहद पसन्द पड़ा। तय हुआ कि मुझे भापण अगले दिन ही देना है। शशि ने कहा, 'मै अभी ही शकुन्तलाजी को फोन किये देती हूँ।'

डॉ० पाल की कार मुझे अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र मे छोड़ने गई। अस्थाना मेरे साथ था। कार से उतरते ही मैनेजर से सन्देश मिला : दो व्यक्ति आपका इन्तज़ार करके चले गए।

मुझे प्रसन्नता थी कि मैनेजर ने मुझे कार से उतरते देखा। पहले दिन, पता नही, उसने मेरे वारे मे क्या सोचा था। काश कि इस समय अमिता भी वहाँ मौजूद होती। मैंने अमिता के वारे मे मैनेजर से पूछा—मुझे विश्वास था कि वह अमिता की गतिविधि पर नज़र रखता होगा। 'वह कमरे मे नही हैं' उसने वतलाया, 'किन्ही साहव के साथ कनाटप्लेस गई है।'

पिछले दो-तीन दिनो से अमिता जयपुर के प्रोफेसर रंजन के साथ घनिप्ठ होती दीख रही थी। मुझे इधर शामो मे लगातार वाहर रहना पड़ा था, फलत: मैं उससे न सिर्फ़ निकटता वढ़ा सका था, वल्कि दूर पडता गया था। सेमिनार के सदस्य रात का खाना केन्द्र के होटल में नहीं लेते। पहले ही दिन साँझ मे सदस्यो को यह सूचना दे दी गई थी कि उन्हे 'डिनर' केन्द्र से वाहर लेनी होगी; प्रत्येक सदस्य को घूमने-फिरने और शाम के खाने के खर्च के लिए पचास रुपये पेशगी दे दिये गये थे। नतीजा यह कि शाम मे सदस्य लोग इधर-उधर विखर जाते। मैं चाहता था कि अमिता को एकाध वार अपने साथ कही खाना खाने का निमंत्रण दूं, पर वैसा हो न सका। सोच रहा हूँ कल शाम का समय उसके साथ विताऊँ।

मैंने मैनेजर से पूछा, 'मुझसे मिलने आने वाले दो लोग कौन थे ? अपना नाम-पता दे गये है ?'

'हाँ दे गये है। मिस्टर पाठक···यह पाठक किधर चले गये ?'

'शायद बाथरूम गये हैं।'

पाठक के लौटने पर मुझे एक चिट मिली; इन्तजार करके चले जाने वाले विमला और वीरेन्द्र थे। क्या बताऊँ, मुझे फुरसत ही नहीं हुई कि विमला के पास जाऊँ, अस्थाना और डॉ० पाल ने अच्छा घेराव डाला है।

× × ×

संदर्भहीनता। लोगों का इम्प्रेशन था कि भाषण बढ़िया रहा। शकुन्तलाजी ने विशेष प्रशंसा की, कुछ दूसरी अध्यापिकाओं ने भी; और शशि तथा दो-एक छात्राओं ने। भाषण कुछ बन भी गया। शायद महिला श्रोताओं की उपस्थिति खास तौर से उत्तेजक साबित हुई। मैंने हेगेल और कीर्केगार्ड से शुरू किया, कुछ देर डार्विन पर रुका और आइन्स्टीन का जिक्र करते हुए समस्या को अपने देश और समय तक खींच लाया। मेरा अनुभव है कि इस तरह बड़े दार्शनिकों और वैज्ञानिकों का नाम लेने से श्रोताओं पर खासा रोब पड़ता है। यह अनुभव मुझे अजय की एक स्पीच सुनते वक्त हुआ था। फर्क यह कि जहाँ अजय बड़े-बड़े लेखकों के नाम एकदम सहज भाव से ले डालता है—कुछ इस तरह जैसे कि उसका उनसे रोजमर्रा का घरेलू जैसा सम्बन्ध हो—वहाँ मैं वैसे नामों और सम्बन्धित विचारों का हवाला देते वक्त कुछ ज्यादा स्वचेतन हो जाता हूँ। हेगेल की तत्त्वमीमांसा के खिलाफ कीर्केगार्ड का विद्रोह एक तरह से सब प्रकार की तानाशाही योजनाओं के खिलाफ़ व्यक्ति का विद्रोह था। डार्विन ने स्थूल सृष्टिवाद का विरोध किया और आइन्स्टीन ने हर तरह की एब्सोल्यूटिज्म (निरपेक्षतावाद) का। संक्षेप में, कीर्केगार्ड, डार्विन और आइन्स्टीन आज की विशिष्ट मनोवृत्ति के प्रवर्त्तक हैं। संदर्भ या सिस्टम यानी व्यवस्था, यानी एक अटल, निरपेक्ष पद्धति, दुनिया और ब्रह्माण्ड का एक अर्थपूर्ण नक्शा—जहाँ ईश्वर और आध्यात्मिक शक्तियों का नियंत्रण रहता है; और नैतिक-आध्यात्मिक मूल्यों का शासन। सत्यमेव जयते और···कर्म का फल जरूर-जरूर भोगना पड़ता है। भले को भला, और बुरे को बुरा। इधर, दुर्भाग्य से, भले-बुरे के बीच की रेखा ही गायब हो गई है। आज हमें किसी भविष्य में, किसी के भविष्य में, आस्था नहीं रह गई है, न मनुष्य के भविष्य में, न उसके मूल्यों में; आज···भाषण करते वक्त मैं सचमुच

वक्तृत्व-कला की ऊँचाइयों पर पहुँच गया था। मित्रता, करुणा, दया,··· ईमानदारी, सचाई, न्याय-अन्याय की भावना···देशभक्ति, मानवता की पुकार वगैरह-वगैरह सब बेमानी नारे बनकर रह गये है, एकदम अर्थहीन। आज···आज व्यक्ति महसूस करता है कि वह एकदम अकेला है, सबसे विच्छिन्न, कटा हुआ, उसका न अतीत है, न भविष्य; न माया, न ममता, न कोई स्थिर सम्बन्ध। जी हाँ···आज जैसे मनुष्य को मनुष्य से बाँधनेवाला मनुष्य को अतीत के प्रति वफादार और भविष्य के प्रति आश्वस्त बनानेवाला कोई आस्था या विश्वास का सूत्र नही रह गया है। देवी-देवता, ईश्वर-आत्मा, पुनर्जन्म-परलोक—विज्ञान ने मनुष्य के तमाम पवित्र विश्वासो को अन्धविश्वास घोषित कर दिया है। और विज्ञान के माने सिर्फ भौतिकशास्त्र और रसायनशास्त्र ही नही; जीवविज्ञान, शरीरशास्त्र, मनोविज्ञान, नरविज्ञान ये सभी विज्ञान है, और इन सबकी सम्मिलित गवाही उन सब चीजो के खिलाफ है जिन्हे देश-विदेश के ऋषि-मुनि, फकीर-पैगम्बर, पादरी-पुरोहित धर्म या अध्यात्म कहते आये है···

और यह आज की दुनिया, आज का जीवन, आज का साहित्य···ये सब इसी विघटन—मूल्यो के विघटन—को प्रतिफलित करते है, कर रहे है। उन्हे यही करना भी चाहिए···

मैने बड़े जोर-शोर से भाषण किया था, दिल और दिमाग का पूरा जोर लगाकर। शायद इसलिए कि मै महिलाओ के एक मजमे में बोल रहा था, और दिल्ली की एक प्रसिद्ध सस्था मे। अस्थाना उपस्थित नही था, न अमिता—काश कि ये दोनो भी मौजूद होते, और डॉ० पाल। शशि थी, और मै इससे सन्तुष्ट था। और शकुन्तलाजी? देखने-भालने मे अच्छी ही थी, लेकिन, जैसा कि अविवाहित महिलाओ के साथ अक्सर होता है, उन पर असमय बुजुर्गी की छाया पड़ती जा रही है।

× × ×

आज सुबह मैंने अमिता से शिकायत की थी कि वह कुछ अलग-अलग रहती है। 'नहीं, तो कोई बात नही है', उसने औपचारिक ढग से कहा था। इस पर मैने खुद ही जोड़ दिया था: 'कुसूरवार मैं भी हूँ, इधर साहित्यिक दोस्तों की कृपा से फुर्सत ही नही मिली। कल डॉ० पाल के

यहाँ डिन्नर मे जाना पडा, आज इन्द्रप्रस्थ कालेज मे टॉक देना है।' 'ओह! तुम सचमुच वहुत व्यस्त हो। कितने बजे टॉक देनी है?' 'तीन बजे। उम्मीद है साढे चार तक वापस आ जाऊँगा। और तब···'

'तब हम लोगो के साथ घूमने चलना···आज दिल्ली के साइट-सीइग (सैर) का प्रोग्राम है।'

'सच? मैं इसका स्वागत करूँगा। लेकिन आपके लिए तो दिल्ली नई नही है?'

'नही, फिर भी मित्रो का आग्रह है', अमिता ने औपचारिक मुस्कराहट के साथ कहा था।

मैं जब व्याख्यान देकर लौटा तो पाया कि वीरेन्द्र विमला के साथ आया हुआ है। उसे देखकर याद पड़ा कि उसने मेरे लिए छोडी हुई चिट पर, आज चार बजे आने को लिखा था। ज़ाहिर था कि विमला मुझसे मिलने को विशेष उत्सुक थी; और वीरेन्द्र को मेरे भाषण वाले प्रोग्राम का पता तो हो ही नही सकता था।

मैंने व्यस्त भाव से दोनो का स्वागत किया। वतलाया कि मैं तुरन्त इन्द्रप्रस्थ कालेज मे व्याख्यान देकर आ रहा हूँ। 'मुझे अफसोस है कि मेरे कारण आप लोगो को कष्ट हुआ', मैंने विमला की ओर देखते हुए कहा।

'कष्ट तो आपको हुआ', विमला ने सूखी मुस्कराहट के साथ बोलने की कोशिश की।

मैंने भरपूर नजर से विमला को देखा, सचमुच वह कितनी वदल गई है! शरीर और शक्ल मे इतना ज्यादा परिवर्तन! चेहरे मे, जहाँ पहले आकर्षक ताजगी और लुनाई की दीप्ति थी, वेरौनक रूखापन दीख पड़ रहा है। मुस्कराहट के वदले अजीव-से दैन्य का भाव। देखने और वोलने के अन्दाज मे गहरी हीनतावुद्धि की गन्ध। लगता है जैसे आठ-दस वरस उम्र वढ गई हो। एकाएक मेरी कल्पना के आगे उसका दो-ढाई वरस पहले का आगरेवाला व्यक्तित्व झूल गया : चमकती आँखे और गाल, और होठो पर सहज फूट पडने वाली हलकी हँसी। उतने थोडे अरसे मे ऐसा इन्कलाव। मैं सीरियसली विमला को राय देने वाला था कि वह सेठ को तलाक देकर दूसरी शादी कर ले, लेकिन अव·· अव सोचता हूँ उससे शादी करेगा कौन!

'विमला भाभी, आप इधर बीमार थी क्या ? बहुत दुबली और थकी-सी जान पड़ रही हैं,' मैंने उपचारवश पूछा।

'नही, शरीर से तो बीमार नही थी।'

'दीदी को स्कूल मे बहुत काम करना पडता है, हफ्ते मे तीस-बत्तीस पीरियड पढ़ाना होता है।'

'हूँ; स्कूल की नौकरी ठीक नहीं।'

'क्या किया जाए, किसी तरह तो गुजर करनी पड़ेगी,' विमला ने कहा।

वह एकाएक बहुत उदास हो आई, जैसे चेहरे पर कही से अँधेरे की अतिरिक्त पर्त आकर जम गई हो। मैं इस चेहरे को पहचान नही पा रहा हूँ; नही-नही, यह वह चेहरा नही है, नही हो सकता। यह वह विमला नही है, जिसे मैंने कई बरस पहले आगरे मे देखा था। जिसे···

इधर दिल्ली की सैर को जाने वाली गाड़ी आ गई थी। अमिता की ओर से मैनेजर ने आदमी भेजकर पुछवाया कि मुझे चलना है कि नही।

मैंने फिर व्यस्तता का अभिनय किया और विमला और वीरेन्द्र से क्षमा माँगी। 'मैं कल आपसे मिलने की पूरी-पूरी कोशिश करूँगा, वीरेन्द्रजी के साथ; और उस बात का खयाल रखूँगा। खयाल तो मुझे है ही···।

'आप अस्थानाजी से कह सकें तो अच्छा होगा,' वीरेन्द्र ने विमला की ओर से जोड़ा।

'मैं अस्थाना से बात करूँगा, और डॉ० पाल से भी, इधर डॉ० पाल से मेरा खासा सम्बन्ध बन गया है। मुझे अफसोस है कि मै इस समय आप लोगों को चाय भी नही पिला सका।···देखिए न, उधर मेरा इन्तजार हो रहा है,' कहते हुए मैंने कलाई की घड़ी पर नजर डाली और उठकर खडा हो गया। विमला और वीरेन्द्र भी उठ गये। सैर के लिए कही से एम्बेसडर कार आई हुई थी। मेरे देखते-देखते पीछे की तीन सीटें भर गईं। अमिता बीच मे बैठी थी, उसके दाहिनी ओर जयपुर वाले प्रोफेसर कुमुद रंजन और बाएँ कलकत्ता के शरद सान्याल। मैं विमला के ताजे साक्षात्कार को लेकर अन्यमनस्क था, वर्ना मेरे लिए अमिता के पार्श्व मे जगह लेना कठिन न होता। मेरे अलावा दो व्यक्ति और थे, जिन्हे बैठने का स्थान पाना था।

अमिता के सकेत से मैं पीछे शरद सान्याल की बगल में वैठ गया; शेष दो व्यक्ति ड्राइवर के पास की जगह मे पहुँच गये।

मैं विमला के उस नये चित्र को, जो अभी-अभी मुझे दिखाई पड़ा था, भूलना कठिन पा रहा हूँ। इतने थोड़े समय मे इतना व्यापक परिवर्तन! मैं अपने पर, अपनी आँखो पर, विश्वास नही कर पा रहा हूँ। मेरे सामने रह-रहकर विमला की उस दिन की छवि खडी हो रही है, जव उसने मुझे पकौड़ियाँ वनाकर खिलाई थी। मुझे मोहिनी की शक्ल, उसका लिवास और भगिमाएँ भी याद आ रही है। उन दिनो, सच ही, उन दोनो मे उतना अन्तर न था; तव वे एक-दूसरे से तुलनीय थीं, फ़र्क उन्नीस-वीस का था। आज···आज शायद उनमे वहुत ज्यादा अन्तर पड़ गया है। और भी ज्यादा अन्तर तव की और आज की विमला मे दिखाई दे रहा है।

अजीव-सी वात, यह अन्तर किनके वीच है? उस विमला के जो थी और अव नहीं है, और उसके जो अव है। होने न होने के बीच का अन्तर। नही, उन दो का अन्तर जिनमे से एक अव नही है।

और आज इसका सवूत भी क्या है कि विमला, तव, ऐसी या वैसी थी? इसका एक मात्र सवूत कुछ लोगों की याद है—उनके स्नायुमंडल और रेटिना (अक्षि-पट) पर पड़ी हुई एक छाप, एक तसवीर; दूसरा कोई सवूत कहाँ है? यह एक अजीव वात है कि एक चीज़, दुनिया से गायव हो जाने के वाद, आज हमारी स्मृति मे पड़े एक दाग या चिह्न के रूप मे ही मौजूद और उपलव्ध हो। उपेन्द्र भी कुछ वैसे ही रूप मे मौजूद और उपलव्ध है—स्मृति के पर्दे पर पड़े एक दाग के रूप मे।···कितने आश्चर्य की वात है, एक अनिश्चित, धुंधले स्मृति-चित्र के अलावा आज उपेन्द्र के, और उस वक्त की विमला के, अस्तित्व का कोई सवूत पेश नही किया जा सकता!

'निगम, क्या वात है, आज तुम वड़े खामोश हो?' जान पड़ता है अमिता इधर कुछ कह रही थी, जो मैंने नही सुना। यह गलत है, एकद गलत, वर्तमान से भागकर अतीत मे खो जाना। उपेन्द्र मर गया तो मरे और विमला वदल ही गई तो क्या; हमे वर्तमान से सरोकार होना चाहिए, सिर्फ उससे। शायद अमिता ऐसा ही कुछ कह रही थी। अमिता का व्यक्तित्व सुन्दर ही नही दिलचस्प भी है।

मैंने अमिता को हूँ-हाँ में कुछ उत्तर दे दिया है। मेरी तवीयत जरा कम ठीक है, मैं कुछ थकान महसूस कर रहा हूँ। 'हूँ। आज इन्द्रप्रस्थ कालेज में टॉक दिया था न, कैसा रहा ?' इन्द्रप्रस्थ कालेज प्रथम श्रेणी का कालेज है, मेरा अपना कालेज; मैं उसे 'मिस' करती हूँ—ग्वालियर उतनी आधुनिक जगह नही है न।

'ओ वावा, हमारा देश अभी कितना पिछड़ा हुआ है। ग्वालियर में एक मोहन वावा हैं, अच्छे स्कॉलर भी हैं। उनका हमारे कालेज मे भापण हुआ, यानी उपदेश। क्यों ? क्योकि कालेज कमेटी के मैनेजर साहव उनके भारी भक्त है। वावा ने उपदेश दिया—दुनिया मिथ्या है, माया है, दुनिया की हर चीज मिथ्या है, यानी क्षणभगुर और नाशवान। कालेज की अध्यापिकाएँ वड़ी श्रद्धा से सुन रही थी, इसलिए भी कि मैनेजर साहव खुद मौजूद थे। मुझे बड़ी खीझ हो रही थी, और अजीव-सा लग रहा था। वावा को कोई नई वात भी कहनी है, या वही पुराना राग।···इस देश मे लोग पुरानी वातों को कितनी श्रद्धा से दुहराते है, और बिना किसी ऊव के। और ऐसे अन्दाज़ से जैसे आप कोई नयी वात कह रहे हों, एकदम नयी और अपनी वात। जवकि आप सिर्फ उसे दुहरा रहे है जो सदियों पहले कहा गया था।

अमिता वोल रही थी, घीमे किन्तु स्पप्ट स्वर में, और काफी उत्साह से। मुझे लगा कि वह वात करने के नही, वोलने के 'मूड' में है। वह उत्तर की एकदम ही अपेक्षा नही कर रही थी।

'मोहन वावा वक्ता अच्छे है, कभी-कभी अँग्रेजी के शव्द भी वोल जाते हैं; ग्वालियर में उनकी वड़ी धाक है।' फिर कुछ रुककर कहा, 'मेरी फिलासफी पुराने वेदांत की ठीक उलटी है। मैं कहती हूँ यह शाश्वत और स्थायी का राग निरर्थक वकवास है, इट्स ए ग्रैण्ड इल्यूज़न (यह एक वड़ा फरेव है, वडी भ्रान्ति), जिन्दगी मे न कुछ शाश्वत है न टिकाऊ। जिन्दगी क्षणों का समूह है—निरन्तर वहने, गायव होने वाले क्षणो का। ये क्षण ही हमारी असलियत है, जिन्दगी की अर्थवान इकाइयाँ।'

'हमें चाहिए कि इन भागते हुए क्षणों को पकड़े और सार्थक वनाएँ,' उसने कुछ रुककर कहा।

अमिता किससे वात कर रही थी, कहना कठिन है। उसके उद्गार किसी खास व्यक्ति को संबोधित नही जान पडते थे। शुरू मे उसने मुझे नाम लेकर पुकारा था, लेकिन यह ज़ाहिर था कि अब वह मुझसे वात नही कर रही थी। वह शायद मेरी उपस्थिति मे दिलचस्पी भी नही ले रही थी—मुझे भूल-सी गई थी। तव उसके वक्तव्य का संवोध्य कौन था ? सान्याल ? या प्रोफेसर रजन ? अमिता जिस ढग से चेहरा विना इधर-उधर घुमाए अपनी वात कहे जा रही थी उससे कुछ भी निष्कर्ष निकालना कठिन था।

'यह जरूरी है कि हम वर्तमान की चिन्ता करे, आज की, इस क्षण की। अतीत पहले ही खत्म हो चुका है और भविष्य अनिश्चित है—और जहाँ वह निश्चित है वहाँ वर्तमान पर आधारित है। मै किसी शाश्वत तत्त्व मे विश्वास नही करती; प्रेम भी शाश्वत नही है; शाश्वत, सदा टिकने वाला प्रेम रोमांटिक दिमाग की कल्पना भर है। असली जिन्दगी मे वैसा प्रेम न होता है, न हो सकता है। प्रेम क्षण का आकर्षण है या क्षण-क्षण का आकर्पण। जब तक दो व्यक्ति वैसा आकर्षण महसूस करते है तभी तक उनके वीच प्रेम रहता है, उसके बाद खाली अभ्यास रह जाता है।'

हम लोग कुतुब मीनार के पास उतरे और अनायास ही टुकडियो में बँट गये। अमिता प्रो० रजन के साथ हुई दीख पड़ी, मैंने अपने को सान्याल की वगल मे चलते पाया। प्रयत्न करने पर भी मै अमिता को प्रो० रजन से अलग न कर सका। मैंने यह भी उचित नही समझा कि अपने को उन दोनों के वीच डाल दूं।

अमिता का जीवन-दर्शन मेरे विचारो से कितना मेल खाता है ! सेमिनार मे भी उसे अक्सर मुझसे समर्थन मिलता रहा है। इसके विपरीत प्रो० रजन का दृष्टिकोण हम लोगों से काफी भिन्न है, वे लाइलाज आदर्शवादी है, और आशावादी भी, जैसा कि उन्होंने सेमिनार की एक वैठक में कहा था। फिर भी अमिता उनका साथ ज्यादा पसन्द कर रही है, यह विचित्र है।

मैंने अपनी कठिनाई का जिक्र सान्याल से किया। सान्याल ने कहा—जानते नही हैं नेगेटिव और पाजिटिव (ऋणात्मक और धनात्मक) के बीच आकर्पण होता है; यह प्रकृति का नियम है।

'सचमुच,' मैंने मुस्कराहट के साथ सान्याल का समर्थन किया।

'यू सी,' सान्याल ने रहस्य के भाव से कहा, 'शी इज़ ट्राइग टु करप्ट हिम।' [बात समझिए, वह उन्हे (प्रो० रजन को) भ्रष्ट करने की कोशिश कर रही है।]

× × ×

आज सुबह के अखबार मे दो महत्त्व की खबरें पढ़ी, एक यह कि प्रसिद्ध पत्रकार और लेखक श्री रणधीर निगम ने इन्द्रप्रस्थ कालेज मे आधुनिक साहित्य पर महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिया, और दूसरी यह कि मध्य प्रदेश के प्रसिद्ध कवि और कथाकार श्री कमलेश मित्तल की, जो बहुत दिनो से यक्ष्मा के मरीज थे, स्थानीय इरविन अस्पताल के यक्ष्मा वार्ड मे मृत्यु हो गई। यह भी सूचना थी कि आज लगभग ग्यारह बजे कमलेश का अन्तिम सस्कार होगा और यह कि उसकी शव-यात्रा मे दिल्ली के प्राय: सभी महत्त्वपूर्ण लेखक शरीक होगे।

लगभग दो महीने पहले कमलेश के दिल्ली लाए जाने की खबर अखबारों मे और हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओ मे छपी थी, तभी उसका लम्बा-चौड़ा परिचय भी जहाँ-तहाँ प्रकाशित हुआ था। उससे पहले, कम-से-कम उत्तर प्रदेश और दिल्ली में, कमलेश खास चर्चा का विषय नही था। बीमारी के दौरान मे कमलेश लगातार डायरियाँ भरता और विचारात्मक नोट्स लिखाता रहा था।

मध्य प्रदेश मे कमलेश काफी बदनाम हो चला था। वह बहुत ज्यादा शराब पीता था और वेश्याओं से विशेष सम्पर्क रखता था। आमदनी कम थी और खर्च बहुत ज्यादा; जेब मे थोड़े भी पैसे होने पर वह शराब और औरत की तलाश में चल पड़ता था। तब वह यह हिसाब रखना भूल जाता कि उसके बीवी है, बच्चे है और उनकी कुछ जरूरते है। कमलेश के एक छोटा लडका था, और एक तीन-चार बरस की लड़की। वह अपने बच्चों को बेहद प्यार करता था; कुछ का खयाल है कि वह अपनी बीवी को भी कम प्यार नही करता था। लेकिन विशेष कमाऊ और सयमी न होने के कारण वह बीवी-बच्चो की उचित देखभाल नही कर पाता था।

कमलेश कहानियाँ लिखता था, और कविताएँ, इधर उसने एक-दो

उपन्यास भी लिखे थे। उपन्यास उसने खासकर इसलिए लिखे कि उनसे कुछ ज्यादा पैसे कमा सके।

कमलेश का साहित्य, कुछ पुराने आलोचको की नजर में, गन्दा साहित्य है। अपने देश के समीक्षक साहित्य मे वडी जल्दी गन्दगी देखने लगते है—ठीक जैसे आर्यसमाजी स्वामी लोग, कदम-कदम पर, जीवन मे गन्दगी देखते है। लेकिन यह मानना ही होगा कि कमलेश वड़े जीवट का लेखक था—अनवरुद्ध, सामाजिक भय और वर्जनाओ से एकदम मुक्त। वह खुले, वैज्ञानिक ढग से सोचता था, और वैसे ही वरतना भी चाहता था। जैसा कि एक सहानुभूतिशील समीक्षक ने कुछ पहले उसके वारे मे लिखा था, उसकी मान्यताओ और व्यवहार मे, सोचने और वरतने मे, विषमता या खाई नही थी।

ऐसा कुछ दावा अपना भी रहा हे। जिन्दगी और आचरण के वारे मे मै, सदा से, खुला और वेलौस होने का दावा करता आया हूँ। लेकिन··· क्या अब मुझे समझौता करना पडेगा—मतलव है 'राही और राहे' उपन्यास को लेकर? डॉ० पाल कितने शक्तिशाली है, और कितने सहायताशील! अरे हाँ, आज रेडियो स्टेशन पहुँचना है—आशा है, जैसा कि अस्थाना ने आश्वासन दिया था, समय पर डॉ० पाल की कार आ जाएगी। आज की दुनिया मे, खासकर दिल्ली मे, कार वड़ी जरूरी है। सच यह कि आधुनिक युग मे रहने के लिए आज के उपकरण भी पास होने चाहिए। कमलेश इस वात को नही समझता था; एकदम शुद्ध लेखक था न, शुद्ध यानी वौड़म। वह आधुनिक जीवन के एक पहलू से बिलकुल ही अपरिचित था—उन तरीकों से जिनके प्रयोग मे डॉ० पाल (और अस्थाना) माहिर है।

मैं वार-वार अपने से यह सवाल करता हूँ कि जिन्दगी और साहित्य मे, आखिरकार, सचाई के इतने आग्रह की क्या जरूरत है? एक तटस्थ दर्शक होने के नाते क्या मेरा इतना भी कर्तव्य नही है कि लोगो को, अपने पाठकों को, अपनी देखी-भोगी हुई जिन्दगी की सही-सही रिपोर्ट दे दूँ—यह रिपोर्ट भी कि यहाँ सफल होने के लिए, सच और झूठ को लेकर, अनावश्यक दर्जे तक सवेदनशील होना फायदेमन्द नही है? मुझे एक महत्त्वपूर्ण निर्णायक के आसन पर बिठाने के लिए, जहाँ मैं किसी के लिए उपयोगी हो

सकूँगा, यह जरूरी है कि मुझसे महत्त्वपूर्ण सस्थाओं मे भाषण कराए जाएँ, और उन भाषणों की अखबारो मे चर्चा हो। आप खुद सोचिए, मुझे ऐसी भूमिकाएँ अदा करने से क्या एतराज हो सकता है—और क्यो होना चाहिए ? आज हमारे देश के तथाकथित नेता राजनीति के मंच पर कुछ ऐसे ही पार्ट खेलते है जैसे डॉ० पाल, और कुछ, जो निस्वतन निचली सीढ़ियों पर है, ऐसे जैसे अस्थाना, और मैं। जी हाँ, अब, राजधानी को विजिट कर लेने के बाद, यदि मैं भी महत्त्वपूर्ण बनने लगूँ तो आपको, या किसी को, एतराज़ नही होना चाहिए। और न आश्चर्य।

तो, कमलेश की मृत्यु हो गई। यक्ष्मा का मरीज, शायद उसे उचित मिकदार मे पौष्टिक भोजन नही मिला। और विमला को काफी प्रोटीन नही मिलता, और विटामिन ए, तभी उसका चेहरा, उसकी त्वचा, रुखी दिखाई देती है। बेचारी विमला ! क्या मुझे उससे सहानुभूति है ? होनी चाहिए ? हाँ और नही—क्योकि उन दिनो, जब वह कुछ देने लायक थी, उसने मुझे कुछ दिया नही। माना कि उसने मुझे ज़ायकेदार पकौड़ियाँ बनाकर खिलाई थी—माना कि वह, एक खास भूमिका और दायरे मे, मेरे प्रति स्नेह का अनुभव भी करती थी। (स्नेह का अनुभव सर्वजीत भी करती है, मै क्या इतनी मोटी बात नही समझता ?) लेकिन आप ही सोचिए, ऐसे स्नेह का ठोस महत्त्व और मूल्य क्या है ? यों शायद, किसी भी सम्बन्ध और भावना का कोई ठोस महत्त्व नही है। (चलते-चलते मैं आपसे यह भी पूछना चाहूँगा कि आखिरकार खुद इस 'ठोस' शब्द का क्या अर्थ है ?)

तो, कमलेश ने हिन्दी-साहित्य मे पहली बार, समलैगिक रति का उल्लेख किया; सुना है उसने यह उल्लेख औरतो के सन्दर्भ मे किया है। जी हाँ, औरतों के। सम्भव है उसने कही देखा-सुना हो, या सिर्फ सुना हो। अपने देश के लेखक अक्सर सुने और देखे—अनुभव किए मे अन्तर नही करते। आपने यह भी सुना होगा कि कमलेश की एलेन गिन्सबर्ग से पहले बनारस मे, फिर कलकत्ते में मुलाकात हुई थी। जी हाँ ! जिन दोस्त ने मुझसे पहली बार इसकी चर्चा की उन्होंने यह बात कुछ ऐसे सजीदा अदाज से कही जैसे गिन्सबर्ग कोई-औलिया या पहुँचा हुआ सिद्ध हो जिसने आकर कुछ हिन्दुस्तानी लेखको को खासकर बगला और हिन्दी के लेखको को मत्र

दिया। (उन दिनों उत्तर भारत के नवयुवक लेखको मे इसे लेकर होड-सी लग रही थी कि कौन पहले जाकर गिन्सवर्ग के सम्पर्क का फ़ायदा उठाए; यह सम्पर्क प्रसिद्ध होने का तरीका भी बन गया था।) अजय से जब मैंने इस बात का जिक्र किया तो उसने कहा, 'आजकल औलिया और सिद्ध बनने के लिए यह काफी है कि आपका जन्म कही अमेरिका मे हुआ हो—और भी अच्छा यदि जन्मस्थान ग्रीन्विच विलेज के आसपास हो।' अजय की कुछ बाते मेरी समझ मे कम आती है। उसमें शायद ज़रूरत से ज्यादा स्वाभिमान है, और देश-अभिमान भी। कही, किसी बिन्दु पर उसकी ये दोनो वृत्तियाँ मिल जाती हैं। वह नही चाहता कि हम लोग, हर कदम पर, हर चीज़ सीखने के लिए विदेशियो का मुँह जोहे। आखिर हमे भी तो मौलिक होना चाहिए।

लेकिन कमलेश और उसके साथी ऐसा नही सोचते थे। कहना नही होगा कि कमलेश ने करीबन सारे आधुनिक प्रभावो को आत्मसात् किया था। कहा जाता है कि इधर कुछ दिनो से वह गाँजा और चरस के दम भी लगाने लगा था। कमलेश सौ फीसदी मॉडर्न था, मेरी पीढी का करीबन पूर्ण प्रतिनिधि। उसे चाहिए था कि हैमिंगवे और मायकोवस्की की तरह आत्म-हत्या करता, यक्ष्मा से मरना ज्यादा समझदारी की बात नही थी।

लेकिन अब कमलेश मर चुका है, और यक्ष्मा से। और जल्दी ही उसके शव का जुलूस निकलेगा—काफ़ी धूमधाम से। आशिक का जनाजा है ज़रा धूम से निकले। किसी दिन महाशय निगम का जनाजा भी निकलेगा—क्यो नही ? आखिर निगम साहब अमर तो नही है, अमर होना एकदम आपत्ति-जनक है जी। अपना जनाजा भी, ऐसी उम्मीद है, थोड़ी-बहुत धूमधाम से निकलेगा और उसके बाद, खुफिया छानबीन होने पर, अपने डेरे से चन्द हसीनो के खुतूत के अलावा शायद कुछ नही बरामद होगा—उसकी भी खास उम्मीद नही। श्रीमती मुकर्जी इतनी सतर्क हैं कि कभी उन्होंने कोई काम का पत्र लिखकर नही भेजा, और सरोज तो अब पत्र लिखेगी ही क्यो ? पहले एकाध चिट्ठी या चिट भिजवाई होगी, किन्तु बाद मे, गुस्से मे आकर, मैने वह सब नष्ट कर दिया। मैं आपसे बिलकुल सहमत हूँ कि गुस्सा अच्छी चीज नही है, खासकर ऐसे सम्बन्धों मे। वहाँ समझदार व्यक्ति को हर

सम्भावना और परिणति के लिए तैयार रहना चाहिए।

यदि पढ़ी-लिखी होती तो शोभा शायद पत्र लिखती। लेकिन उसने भी, बाद मे, एकाएक वेरुखी इख्तियार कर ली। यों मैं स्वीकार करूँ, मुझे उसका सम्बन्ध काफ़ी तृप्तिदायक जान पड़ा था। वह, कुल मिलाकर, खराब औरत न थी, इसलिए उसके प्यार में एक तरह की सचाई और सहजता का रस था। वह खास लालची भी न थी, स्वेच्छा से मेरे द्वारा दिये गए के अलावा उसने कभी कोई माँग नही की। शायद वह सहदेव से असन्तुष्ट थी—सहदेव उसके प्रति वहुत-कुछ लापरवाह था। लेकिन फिर उसके रुख मे वैसा परिवर्तन क्यों हुआ: कही यह तो नही कि उसे भय था कि उस तरह का सम्बन्ध, सबकी आँखो से छिपाकर, ज्यादा दिनो नही चलाया जा सकेगा ?

वीरेन्द्र ने फोन किया है: क्या मैं जुलूस मे शामिल होना चाहूँगा ? जी नही, उपेन्द्र की मृत्यु के उस भयकर अनुभव के वाद, अव मुझे एकदम ही साहस नही होता कि वैसे किसी अवसर पर उपस्थित रहूँ। कुछ भी कहो, आखिर कमलेश, लेखक होने के नाते, मेरा साथी था, और वहुत दूर तक, समानधर्मा साथी। वह मुझसे एक ही बात मे भिन्न था—शादीशुदा होने में। और परिवार वाला। इसलिए कभी-कभी मै यह समझना मुश्किल पाता हूँ कि उसमे औरत की इतनी भूख क्यो थी। जहाँ तक मेरा सवाल है, मै एक वैचलर (कुंआरा, कुमार) हूँ, स्वाभाविक है कि मैं वहुत ज़्यादा अकेलापन महसूस करूँ, और उस तरह की भूख से ज्यादा पीड़ित रहूँ। आपने शायद कभी वैसा अनुभव किया हो: भूखे व्यक्ति की नजर हर तरह के भोजन पर पड़ती है। वहुत भूखा व्यक्ति यह विवेक नही रख पाता कि उसके स्वास्थ्य की दृष्टि से, क्या ग्रहण करने लायक है और क्या नही। औरत की ज़रूरत को लेकर मै कभी-कभी वेहद परेशान हो जाता हूँ और विवेक से वचित। शोभा फिर भी काफी अच्छी थी, सूरत-शक्ल मे, और स्वभाव मे भी; वाद के दिनों मे यदि उसमे सिर्फ़ खुलेपन से आगे वढ़कर उघड़ेपन की प्रवृत्ति उगने लगी तो उसका कारण मैं ही अधिक था। मै साफ कहूँ; जहाँ शुरू मे मैं उसकी सकोचशीलता और प्रतिरोध की वृत्तियों से आकृष्ट हुआ था, वहाँ, वाद मे, मैं उनसे एक तरह का नैतिक असन्तोष और खीझ महसूस

करने लगा। शायद उसकी वैसी वृत्तियाँ मुझमे नैतिक हीनता का भाव पैदा करती थी। शरीर के नही तो मन के धरातल पर मैं पहले ही बहुत-कुछ भ्रष्ट हो चुका था, यही नही, मैं उस भ्रष्टता मे रस लेने लगा था। इस दिशा मे, निश्चय ही, मुझ पर सेठ की सगति का गहरा असर पडा था।

मैं एक खास तरह की भूख की बात कर रहा था। मैंने कहा न कि कभी-कभी, उस खास भूख से, मै बेहद परेशान हो जाता हूँ। वह भूख जिस्म की होती है? या मन की? या दोनों की? आप क्या बताने की कृपा करेंगे, यह अकेलेपन की अनुभूति क्या होती है? मै पूछता हूँ कि एक अकेला आदमी, आखिर, क्या चाहता है? क्या जिस्म की भूख कभी-कभी अकेलेपन की अनुभूति भी बन जाती है? या यह कि वह भूख अपने को कई रूपो मे प्रकट करती है? प्रश्न है, कौन-सी जरूरत ज्यादा मौलिक है, ज्यादा गहरी और आन्तरिक? यहाँ एक और अजीब सवाल उठता है, क्या मन और मस्तिष्क की तरह, जिस्म भी अकेलापन महसूस करता है? माना कि जिस्म मे तनाव होता है, लेकिन वह तनाव तो अकेले भी दूर किया जा सकता है। क्यो नही? शायद आप सोच रहे हैं यह अस्वाभाविक है, अप्राकृतिक। मुमकिन है आपकी बात सही हो, मुमकिन है सही न भी हो। प्राकृतिक और स्वाभाविक—मुझे लगता है कि इन्सान की अधिकाश हरकते, उसकी सभ्यता, उसके तौर-तरीके अप्राकृतिक और अस्वाभाविक है।

आप मेरी राय जानना चाहते है? अपने प्रति प्रदर्शित आपके इस आदरभाव के लिए मैं कृतज्ञ हूँ। लेकिन···लेकिन मैं खुद नही जानता, सचमुच ही नही। क्या कहा, मुझे अपने मन मे झाँककर देखना चाहिए, लेकिन कैसे? मेरा मन सिर्फ एक मन नही है, वह निरन्तर बदलता रहता है—उसका सब-कुछ, उसका भीतरी द्रव्य और तत्त्व, उसकी जरूरते और कल्पनाएँ, सब लगातार रूपान्तरित होते रहते है। वह कभी कुछ माँगता जान पडता है, कभी कुछ, कभी एक चीज चाहता है, कभी दूसरी। वह क्या चाहता है इसके जवाब मे मैं आपके सामने सिर्फ उसका इतिहास ही पेश कर सकता हूँ, यानी यह ब्यौरा कि वह समय-समय पर क्या चाहता रहा है।

मैं सरोज से क्या चाहता था, कहना कठिन है। वह मेरा पहला सीरियस

लगाव था, वैसे लगाव का पहला अनुभव। यह लगाव किसी तरह के हिसाब पर आधारित न था; वह, एक तरह से, स्वतःस्फूर्त लगाव था। मुझे सरोज का व्यक्तित्व अच्छा लगता था, मोहक, लुभानेवाला—उसका समूचा व्यक्तित्व, उसका रूप-रंग, कद-कामत, स्वभाव, वातचीत। क्या यह माना जाए कि मै ये सब चीजे एक साथ, एक जगह, पाना चाहता था ? लेकिन बाद में जब उसके रुख मे एकाएक परिवर्तन हुआ मुझे तो लगा कि वह धोखेबाज है—हम दोनो के लगाव के प्रति गद्दार। मुझे उससे बेहद नाराजी हुई, एक तरह की घृणा। अजय कहता है कि जिसे हम सचमुच प्यार करते है उससे असली नाराजी और घृणा सम्भव नही। अजय, जैसा कि मैं कहा करता हूँ, लाइलाज रोमांटिक है। आखिर नाराजी और शिकायत हमे उसी से होती है, जिसे हम निकट मानते है।···और शोभा और श्रीमती मुकर्जी ? मैं सचमुच नही समझ पाता कि मैं अलग-अलग स्त्रियो से क्या चाहता हूँ। शोभा मेरे लिए, शायद, एक भोगने की वस्तु मात्र थी। मुमकिन है कुछ दिनों वाद मुझे उसकी ममता हो जाती—यह मानना ही पड़ेगा कि वैसी ममता प्रेम का आवश्यक तत्त्व है। लेकिन तब तक वैसी कोई भावना उगी-बनी न थी; यह बात दोनो ओर लागू होती थी। उसके एकाएक गायब हो जाने पर मुझे लगा जैसे मुझे किसी चीज से वंचित कर दिया गया—किसी ऐसी चीज से जो मेरे उपयोग में आती थी, यह नही लगा कि मेरा किसी से विछोह-अलगाव हो गया है। मतलब यह है कि हम दोनों का सम्बन्ध दो व्यक्तियो का सम्बन्ध न था, हम दोनो जैसे एक-दूसरे के लिए उपभोग्य वस्तु मात्र थे। शोभा के चले जाने का अर्थ, मेरे लिए, कुछ ऐसा ही था जैसा कि किसी प्रिय और उपयोगी चीज के छीन लिये जाने का होता है। मुझे शिकायत थी, पर शोभा से नही, परिस्थितियो से। शोभा से शिकायत नही थी, नही हो सकती थी, क्योकि उसका और मेरा संयोग किन्ही दो व्यक्तियों का मेल न था। फर्क सिर्फ यह कि शोभा, उपयोग और उपभोग की चीज होते हुए भी, सचेत रूप मे मेरी इच्छाओं के अनुरूप बरतने की कोशिश करती थी। इस अनुभव की आवृत्ति बाद मे भी कई बार होती रही है।

कानपुर के तीन दिन—या राते। मैं वहाँ एक लेखक-नेता के

अभिनन्दन-समारोह में शामिल होने गया था। जी हाँ, आपकी साठवी वर्ष-गाँठ पर बडा-सा समारोह हो और आपको मोटा-सा अभिनन्दन-ग्रन्थ भेट किया जाए, इसके लिए यह ज़रूरी है कि आप लेखक होने के साथ-साथ नेता भी हो। आप लोकसभा के सदस्य हो, यह और भी अच्छी वात होगी। तव आपको वडे-वड़े समीक्षक और विभागाध्यक्ष, 'दादा' कहेगे या 'वावूजी', वगैरह, वगैरह···

कानपुर के एक प्रतिष्ठित समीक्षक के वारे मे यह प्रसिद्ध है कि वे उस लेखक, मे जो लोकसभा या राज्यसभा का सदस्य वन जाए, विशेष साहित्यिक सौष्ठव देखने लगते है—और ईमानदारी से। वे ऐसे लेखक का विशेष अध्ययन करना, कम-से-कम जहाँ-तहाँ उसका विशेष उल्लेख करना, अपना कर्तव्य समझने लगते हैं। कहना न होगा कि इस समारोह की आयोजना मे उनका सक्रिय हाथ रहा था। मैं उसमे सम्मिलित होने गया था, क्योकि मुझे यानी 'समयदेवता' के प्रख्यात सम्पादक को ससम्मान निमंत्रित किया गया था, और इसलिए भी कि मुझे यात्रा करने का शौक है, खासकर उस दशा मे जव किराये का खर्च किसी दूसरे के मत्थे हो।

समारोह दो दिन हुआ था, किन्तु मैं दो की जगह चार दिन रुक गया था। याद आ रही है कुछ राते, कुछ चेहरे। पहला चेहरा विशेष सुघर था। कमसिन, भोला-सा व्यक्तित्व। न जाने क्यो, शुरू मे ऐसी भावना हुई कि उससे शारीरिक सम्पर्क न करूँ। मैं देर तक उस चेहरे को गौर से देखता रहा था। उसने अपने वारे मे कुछ वतलाया था, शायद कुछ पछतावे के साथ। सोचता हूँ : वैसी उदार भावना मन मे क्यो आई थी ? क्या ऐसा कोई नियम है कि सौन्दर्य का उस तरह का गलत (?) व्यावसायिक उपयोग नही होना चाहिए ? कालिदास ने कही वैसा कुछ कहा है। लेकिन जैसा कि आप अनुमान कर सकते है, मेरे मन मे वैसी भावना देर तक टिकने वाली न थी। पश्चात्ताप ? मुमकिन है हुआ हो, अव याद नही। लेकिन पश्चात्ताप एक तरह की सामाजिक-नैतिक आदत का प्रतिफल है—उस आदत या अभ्यास मे व्यतिक्रम होने का परिणाम। मैं जो इस समाजमनोवैज्ञानिक तथ्य से परिचित हूँ, स्वभावतः अपने को उसका शिकार होने नही दे सकता था।

अगली वार उस चेहरे को दोवारा देखने की इच्छा के वावजूद मैं वहाँ नही गया। शायद आप कहे कि यह उसी भावना के कारण था जिसका दवाव मैंने पहली वार स्वीकार नहीं किया था। हो सकता है और नहीं भी। आपकी इस अटकल को जाँचने-सत्यापित करने का इस वक्त कोई तरीका नही है। जैसा कि मैने कहा, मन के अन्दर झाँक लेना पर्याप्त नही है। मन की स्थिति और सम्भावनाएँ दोनों बदलती रहती हैं।

मैं दूसरी जगह पहुँचा था, जहाँ चेहरे का आकर्षण वहुत मामूली था। और वहुत ज्यादा दीनता और प्रसन्न करने की कोशिश। और तव···तव मैंने पाया कि मुझे चेहरे के सौन्दर्य-असौन्दर्य मे ही नही, कुछ दूसरी चीजों मे भी गहरी दिलचस्पी है· यानी एक वेडौल जिस्म के ऐसे हिस्से और रेखाएँ देखने मे जो निश्चित रूप मे भोडी और विरक्ति-जनक है। आप वतलाइए, वैसे हिस्सो और रेखाओं को देर तक घूरकर देखते रहने का क्या अर्थ हो सकता है? मै? मैं सचमुच नही जानता। आप शायद मेरी रुचियों को दोष देंगे; लेकिन जरा ठण्डे दिल से सोचिए, उन रुचियों के निर्माण मे मेरा खुद का हाथ कहाँ है? क्या कहा, मुझे अपनी रुचियों का परिष्कार करना चाहिए। यहाँ कुछ दूर तक मैं आपसे सहमत हूँ। लेकिन मेरी एक मजवूरी है, मैंने पहले भी कहा था कि मेरी प्रखर जिज्ञासा-वृत्ति, मेरी सव-कुछ को देखने-जानने की, सव-कुछ को चेतना के घेरे मे लाने की अभिलाषा मेरी जीवन-सरणि की एक प्रधान प्रेरणा है। आप माने या न माने यह प्रेरणा, जैसा कि मेरा खयाल है, मेरे युग की—युगीन चेतना की—एक मुख्य प्रेरक शक्ति है। तभी तो इस युग मे ज्ञान का इतना विस्तार हुआ है।

मै स्वीकार करता आया हूँ कि मुझमे वेइन्तहा रूप-लोभ है। तरह-तरह के खूवसूरत चेहरो को देखना और उनकी सुन्दरता को अपनी चेतना और स्मृति की प्रयोगशाला में विश्लेषण का विषय वनाना यह मेरी हॉवी (शगल) है। एक प्रसग याद आया। एक दिन मै ओडियन सिनेमा के पास खडा था। शाम का पहला खेल शुरू होने में थोडी ही देर थी। मैं अनिश्चय मे था कि टिकट लूँ या नही, क्योंकि फर्स्टक्लास वाले हॉल के दरवाजे पर उपस्थित लोगों में महिलाएँ वहुत कम थी। सो भी मामूली। इसके विपरीत कुछ दूर सड़क के किनारे एक विशेप आकर्षक लड़की कुछ देर से खड़ी थी,

एक मामूली-से व्यक्ति के साथ। अपनी हैसियत और शक्ल से वह व्यक्ति उसका निकट सम्बन्धी नही जान पडता था, फिर भी उसके साथ सिर्फ वही था। क्या वह किसी की प्रतीक्षा मे खड़ी थी ? मैं जान नही सका, पर धीरे-धीरे मुझे यह निश्चय हो गया कि वह सिनेमा देखने नही आई है। मै उससे कुछ दूर खडा था, जहाँ से वह दिखाई पड़ रही थी। वह कुछ देर से वहाँ खडी थी और बाद मे देर तक खड़ी रही। और मैं ? भला उसके वहाँ खड़े रहते हुए मै सिनेमा देखने कैसे जा सकता था—खासकर उस हालत में जब वहाँ आकर्षक साथियो की सभावना न थी ?

लेकिन उस रात मेरे सब-कुछ देखने-जानने की तृष्णा ने एकदम दूसरी शक्ल इख्तियार कर ली। तब मुझे आभास हुआ कि मै औरत की और मनुष्य की सुन्दरता मे ही नही कुरूपता मे भी काफी रस ले सकता हूं। जी हाँ, अपनी चेतना मे कुरूप, गन्दी तसवीरों को इकट्ठा करके मैं यानी मेरा मन और चेतना खुद एक गन्दगी की पिटारी बन जाते हैं। मैं इस पिटारी की सामग्री की परीक्षा और विश्लेषण करना भी नापसन्द नही करता। कभी-कभी मैं बड़ी उलझन मे पडकर पूछता हूँ : इन्सान और ज़िन्दगी की असलियत वह और वह सुन्दरता है या—या यह और वह कुरूपता ? आप शायद आसानी से कह देगे, दोनो; लेकिन तब सवाल उठेगा, इन दोनो मे कौन मुख्य है, और दोनो मे सम्बन्ध क्या है ?

मेरी अपनी कुरूपता यानी मेरे मस्तिष्क और चेतना की गन्दगी, उन्हे देखना भी मुझे अरुचिकर नही है। यहाँ एक अजीब स्थिति सामने आती है : मैं अपनी आन्तरिक कुरूपता को उत्सृष्ट भी करता हूँ और देखता भी हूँ। जी नही, मैं उसे खराब और पतित घोषित नही करता। शायद मेरी और मेरे युग की यह भी एक विशेषता है।

नम्बर तीन। मै जिसके पास पहुँचा वह मोटे अर्थ मे सरल और सुशील थी। उसके ऋजु व्यवहार ने मुझे शुरू की शोभा की याद दिलाई। सहज सिधाई के साथ आज्ञा मान लेना। खुद रस पा रही है या नही, इसका आभास दिये बिना आपकी इच्छा के अनुरूप व्यवहार। आप जो जैसे चाहे करें, सिर्फ यह कि आप उत्तेजित और ससक्त प्रतिक्रिया की आशा न करे। आप उतने में भी प्रसन्न हो सकते है, और कृतज्ञ—भले ही आपको भीतरी

तृप्ति न हो। जी नही, आपकी तृप्ति के लिए इतना काफी नही है कि कोई अक्षरश. आपकी वात मान ले। आज्ञाकारिता गुण हो सकता है, पर वह एकमात्र और सम्पूर्ण वाछनीय नही है। आप कुछ और चाहते है—पता नही क्या चाहते है। फिर भी मैं सन्तुप्ट था। मैंने कहा, 'तुम्हारा व्यवहार मुझे पसन्द पड़ा। इस समय अतिरिक्त पैसे नही है, पर भेज दूंगा। कम-से-कम दस रुपए।' 'सचमुच? सच ही आपके पास होते तो···और आप भेजेगे? मेरा पता—मेरा नाम शान्ति है, और पता···' मैने पता नोट किया, लेकिन (और यह कहते हुए शर्म के साथ अपनी भीतरी कुरूपता का अप्रिय आभास होता है)··· लेकिन मैंने शान्ति को फिर कुछ भेजा नही। कुछ दिनो याद रही; मन मे कुछ आशंका भी हुई, फिर···फिर (कहना चाहिए) भूल गया। यो, एक तरह से वह आश्वासन और उसका भोला विश्वास अभी तक भी नही भूला है। भूल सिर्फ उसका पता गया है।

आप मुझे समझाने की कृपा करेगे कि मैं क्या हूँ, मेरी असलियत क्या है? मेरी, यानी मेरे युग की, युग के मनुष्य की। सिर्फ इतनी प्रार्थना है; पतित या अपराधी घोषित करने, और दण्डित करने के लिए मुझे मेरे साथियों से, मेरे युग से अलग न करे। मुझे किसी भी जगह और स्थिति मे, अकेला होने या पड़ने मे डर लगता है। मेरा अनुभव यह है कि अकेला पड़ जाने पर आदमी अनुतप्त महसूस करता है—और अनुताप मुझे पसन्द नहीं है। अनुताप, यानी पश्चात्ताप—किस वात का, किसके सामने? कौन है जो मेरी निसवत मे निर्णायक के पद पर बैठेगा? मैं पूछता हूँ ऐसा कौन है? कौन ऐसा साहस, और धृष्टता, करेगा? कौन इतना पवित्र और शुद्ध है? 'वह जो शुद्ध और निप्पाप है, (तथाकथित पापी पर) पहला पत्थर मारे।' अजीव वात है—ईसामसीह के सामने किसी को हिम्मत नही हुई कि बदनाम स्त्री पर पत्थर फेके।

× × ×

मैंने रेडियो पर 'राही और राहे' से सम्बन्धित चर्चा मे भाग लिया। अस्थाना भी मौजूद था। मेरे योगदान की सराहना हुई। मैं सन्तुप्ट हूँ, और कुछ-कुछ ख़ुश भी। मैंने डॉ० पाल और अस्थाना की प्रत्याशित अपेक्षाओं को पूरा किया है।

मुझसे दो फार्मों पर दस्तखत कराये गये। अस्थाना ने कहा, 'जल्दी ही तुम्हारा चेक भिजवा दिया जाएगा।' मैं कुछ हद तक प्रसन्न हूँ, और कृतज्ञ भी।

रेडियो स्टेशन से बाहर निकलते हुए अस्थाना कह रहा है, 'निगम तुम्हारे लिए एक प्रस्ताव है, आशा है तुम उसे पसन्द करोगे।'

'क्या ?' मैं किंचित् तटस्थ स्वर मे कहता हूँ।

'जयपुर मे एक वाड्मय-परिषद् है, बाबूजी उसके स्थायी अध्यक्ष है, और राजस्थान विश्वविद्यालय के एक प्रवर प्रोफेसर उसके मन्त्री। परिषद की स्थापना दो-तीन बरस पहले हुई थी। परिषद् के अनेक कार्यक्रमो मे एक यह भी है कि वह प्रतिवर्ष आधुनिक साहित्य पर तीन व्याख्यान कराये। व्याख्यानों का मानदेय सिर्फ पाँच-सौ रुपये हैं। व्याख्यान परिषद् द्वारा प्रकाशित किये जाते हैं, पर उन पर लेखक को रायल्टी दी जाती है। बाबूजी कह रहे थे कि अगले वर्ष के लिए तुम्हारा नाम मनोनीत कराया जाए—यदि तुम्हे आपत्ति न हो तो।'

'हूँ', मैंने उत्साह-प्रदर्शन के बिना कहा, 'मैं इस पर विचार करूँगा।'

मेरे मन में आया कि मैं अस्थाना से एक बार फिर विमला को लेकर बात करूँ, पर मुझे साहस नही हुआ। डॉ० पाल मेरे लाभ के लिए अभी ही कई कदम उठा चुके थे, वे आगे भी मुझे उपकृत करने का प्रस्ताव कर रहे थे। किन्तु अभी तक मैंने खुद अपनी ओर से, उनसे कोई माँग नही की थी। अब विमला के प्रश्न को लेकर, मैं उनके सामने एक अभ्यर्थी के रूप में उपस्थित होऊँ, यह मुझे रुच नही रहा था। (और फिर विमला मेरी कोई है भी तो नही ! ठीक से देखिए तो मेरा और उसका महज एक औपचारिक सम्बन्ध रहा है, भले ही उस सम्बन्ध को आप कोई निकटता-सूचक नाम दे दें।) डॉ० पाल जो कुछ कर रहे थे, वह किसी उम्मीद से, उस आशा या प्रत्याशा को लेकर मैंने उन्हे, अभी तक कोई निश्चित आश्वासन नही दिया था। वैसा आश्वासन मैं दे भी नही सकता था—देने की स्थिति में नहीं था। उस आश्वासन का जिस पद से सम्बन्ध है, उसकी प्राप्ति भी खुद डॉ० पाल की कृपा पर निर्भर है। (यह आप मानेगे, जरा रोचक स्थिति है।) रही अस्थाना की बात, सो उसे, इस समय, डॉ० पाल के उपन्यास की

सफलता के अलावा किसी चीज़ में दिलचस्पी नही थी। सरसरी तौर पर, वह विमला के वारे में अपनी राय जाहिर भी कर चुका था।

विमला सचमुच वड़ी भोली है, तभी तो वह सेठ की वातों में आ गई। मैं पूछता हूँ, आज की दुनिया मे क्या किसी को उतना भोला होना चाहिए? और उतना विश्वासी? एक जमाना था जव औरत पति पर निर्भर कर सकती थी, और उसपर विश्वास भी; आज का पति भला इस लायक़ कहाँ है? इसीलिए मेरी राय है कि आधुनिक स्त्री को आत्मनिर्भर वनना सीखना चाहिए। खैरियत है कि विमला पढी-लिखी थी, और नौकरी कर सकती थी, वर्ना···मेरी सलाह है कि आज की स्त्री को एक दूसरे अर्थ मे भी आत्म-निर्भरता सीखनी चाहिए—पुरुप को आकृष्ट करने और वाँध रखने की क्षमता मे। जी हाँ, सिर्फ विवाह का वन्धन काफी नही है। पति नाम के व्यक्ति के प्रति अपने को पूरा सर्मपित कर देना और अपने को उस पर पूरा-पूरा निर्भर वना देना दोहरी मूर्खता, निखालिस मूखता है, इसीलिए··· मैं कहता हूँ कि हर शादीशुदा स्त्री को, खासकर जव वह खूबसूरत हो, एक-सभाव्य प्रेमियों पर नजर रखनी चाहिए। जरूरी नही कि वह पति के साथ धोखा या वेवफाई करे, लेकिन···लेकिन यह जरूरी है कि वह अपनी उन ताक़तों को, जिनके ज़रिए पुरुप को आकृष्ट किया जाता है, पैना और सनद्ध वनाये रखे—और कभी-कभी उनकी आजमाइश भी करे।

आप शायद मुझे और मेरी वातो को सीरियसली नही ले रहे है—कभी कभी, वल्कि अक्सर, मैं खुद अपने को सीरियसली नही लेता। लेकिन यह मेरी विनम्रता है। यों मैं यह मानने को तैयार नही कि मुझमे जीवन-विवेक नही है, या उसकी कमी है। मैं आप ही से पूछता हूँ: विमला की समस्या का आपके पास क्या समाधान है? आप मानेगे कि आने वाले भविष्य में सेठ जैसे पतियो की संख्या वढ़ेगी, घटेगी नही; यह भी मुमकिन नही दीखता कि शिक्षा और उपदेश द्वारा उस तरह के पतियों के सभाव्य उदय और वढ़त को रोका जाए। तव···?

आखिर तुम्हे दिल्ली छोड़नी ही पड़ी। मुझे तुमसे हमदर्दी है। लेकिन तुम करते भी क्या; तुम्हारे पैसे खत्म होने लगे थे; और, जैसा कि तुम्हे मालूम हो गया होगा, विना पैसे के दिल्ली मे पलभर भी गुजर नही हो

सकती। लेकिन यह मानना ही पडेगा कि दिल्ली एक दिलचस्प नगरी है, अपने देश का प्रतिनिधि शहर, उसकी सारी अच्छाइयो-बुराइयो का प्रामाणिक लघुचित्र। जी हाँ, यहाँ 'नाग पचमी' और 'नाग कन्या' जैसी फिल्मों मे भी उतनी ही भीड़ रहती है, जितनी की 'हमराही' और 'नया दौर' मे।...

वडी ग़लती हुई, अजय ने अपने एक मित्र का पता दिया था; उनसे मिलना एकदम ही भूल गया। यो शुरू मे मैंने इरादा किया था कि उनसे मिलूंगा। सुना कि वे वडे सीधे, सज्जन और ईश्वर-परायण हैं। धर्मभीरु। अजय ने, कुछ विनोद के भाव से, मेरे सामने उनका और उनके घर का शब्द-चित्र खींचा था। उनकी छोटी-सी बैठक की दीवारों पर रामकृष्ण, विवेकानन्द और गाधी के चित्र हैं। दीवारो पर गांधीजी और स्वामी लोगों के चित्र, और कोने मे तख़त के पास पड़ी छोटी मेज पर रामायण, गीता और वृहत् पाराशरी की एक-एक प्रति...यानी कि श्रीयुत उमाशरण मिश्र, अजय के मित्र, रामकृष्ण-विवेकानन्द के वडे भक्त हैं, वे कुछ ज्योतिष भी जानते है। उन्होने अजय को एक कहानी सुनाई थी, गाँव के किसी ज्योतिषी के वारे मे। किसी किसान के वैल गायव हो गये थे, ज्योतिषी ने वतलाया कि अगले दिन शाम तक वैल खुद-ब-खुद, बिना किसी प्रयत्न के, घर वापस आ जाएँगे। वाद मे ऐसा ही हुआ। वे मित्र किन्ही स्वामीजी का भी ज़िक्र करते हैं, जिन्होने उनके भविष्य के वारे मे कई ठीक भविष्य-वाणियाँ की थी। तभी से उन्हे ज्योतिष मे रुचि हो गयी है। मित्र का एक लडका है हरिशरण, एकदम सीधा और सुशील। उसे विवेकानन्द के सम्वन्ध मे वहुत-सी कहानियाँ याद है। अजय ने राय दी कि पिता और पुत्र गाधीजी की जीवनी पढे, लेकिन मिश्र-परिवार मे रामकृष्ण परमहस और विवेकानद का ज्यादा रौव है। इन लोगो की तुलना मे, जैसा कि मिश्र-परिवार का विचार है, गाधीजी अधिक इहलौकिक यानी दुनियावी थे। अपने देश मे वडा सन्त वही माना जाता है जो, शरीर से नही तो दिमाग से, दूसरी दुनिया मे रहता है। अजय कहता है मेरे मित्र के घर मे पूरा-पूरा सात्विकता का वातावरण है—यानी कि दिल्ली मे। आप विश्वास कर सकेंगे? भई, मुझे तो विश्वास नही होता। अजय के यह मित्र हर रविवार को या तो कही

रामायण की कथा सुनने जाते है, या फिर रामकृष्ण मिशन में। दोनों ही जगह खूब भीड होती है। जी हाँ, दिल्ली में—यह सब दिल्ली मे होता है। तभी तो कहता हूँ कि दिल्ली सचमुच देश की राजधानी है, देश का पूरा लघुचित्र; वह सिर्फ़ एक आधुनिक नगरी नही है।

लेकिन मेरा दुर्भाग्य कि मैं जिस दिल्ली मे घूम-फिर सका, और जिसे जान सका, वहाँ रामकृष्ण, विवेकानन्द और तुलसी वाबा की रामायण की दूर तक गन्ध नही थी।

× × ×

कुल मिलाकर मै अपनी दिल्ली-यात्रा से सन्तुष्ट हूँ। इधर-उधर चारों ओर खूब भीड़, नई दिल्ली, और पुरानी; कनाटप्लेस, और करोलबाग··· और चाँदनी चौक, और स्टेशन। तरह-तरह की भीड़, रिक्शे, ताँगे और स्कूटर, टैक्सियाँ, मोटरें और बसें, और तरह-तरह की शक्लें।···लेखक यानी आन्दोलन, प्रतिष्ठित लेखक और पार्लियामेन्ट और रेडियो स्टेशन।

चाणक्यपुरी, देश-देश के दूतावास। पत्रकार और सम्पादक। होटल और शराब, और ग़रीब हिन्दी लेखको का जनतत्री टी हाउस। मैं सन्तुष्ट और खुश हूँ कि मैने यह यात्रा की···

राष्ट्रीय एकता, भावात्मक ऐक्य; भला सोचिए, यह भी कोई चिन्ता करने की चीजे हैं! जव खुद व्यक्ति की इकाई ही भीतर से एक नही है, खण्डित है, तव बडी इकाइयो की क्या चर्चा? क्या सचमुच इस देश मे, या किसी भी देश मे, कही भी फिर पुरानी किस्म की जड़ एकता स्थापित हो सकेगी? यानी कि सास्कृतिक एकता? एक-से विश्वास, एक आस्था; अनेक देवता, एक तत्त्व! हमारे ऋषि-मुनि कैसे चतुर थे—चार धाम की यात्रा, यानी देश की यात्रा। देश-दर्शन। चार शकराचार्य, एक अद्वैत सिद्धान्त। अजी महाशय, नयी दुनिया ने इन सारे तरीकों को पिछड़ा हुआ वना दिया है। काशी और कलकत्ता, कश्मीर और कन्याकुमारी···जी हाँ, हरएक की अलग संस्कृति है, और अलग समस्याएँ। नही जी, हमे देश की एकता-वेकता से कुछ लेना-देना नही है। क्या कहा, फिर यहाँ किस लिए आये थे। जी, दिल्लो की सैर करने; पुराने दोस्तों से मिलने और नये दोस्त वनाने। अमिता, और विमला, और शशि···और डॉ० पाल। शशि और

श्रीमती, नही-नही कुमारी, शकुन्तला; शशि और अस्थाना। महाशय निगम, क्या तुम अपनी यात्रा से सचमुच सन्तुष्ट हो ? नही ? क्यों ? क्योकि तुम्हें अमिता ने प्रोत्साहन नही दिया। ताज्जुब है कि हम दोनो के विचार इतने मिलते-जुलते थे तो भी···तो क्या, आकर्षण के लिए विपरीत स्वभाव और विचार चाहिए ? लेकिन फिर मुझे उसने क्यों आकर्षित किया ? वह कोई बात नही, तुम्हे तो कोई भी औरत आकृष्ट कर सकती है। तुम्हारी भी कोई रुचि है, कोई पसन्द। और किसी तरह की स्थिरता। फिर यह ढोगभरी भावना किसलिए कि तुम उसे सचमुच प्यार करते थे, कर सकते थे। दो-ढाई वर्ष पूर्व तुम्हे विमला पसन्द थी, और अब, चूंकि तुम्हारी पसन्द अब उसके लिए कुछ अर्थ रख सकती है, तुम ऐसा भाव बनाने लगे जैसे अब उसमे कुछ भी आकर्षक नही रह गया है, जैसे वह सचमुच ही इतनी ज्यादा बदल गई है। तुम उसके पास सिर्फ़ एक बार ही जा सके···

अस्थाना खूब पट्टी पढाता है। निहायत चतुर अस्थाना और नितान्त नीतिकुशल डॉ० पाल। शशि के नक्श साफ और निर्दोष है, कुछ हद तक सुघर भी। अपने पिता के हितो को दूर तक समझती है, और उनकी चिन्ता करती है। नीतिकुशल लोकसभाई की समझदार बेटी। बुरी नही है लेकिन···

यह परिपक्वता क्या होती है ? कब, कैसे, लडकी कच्ची उम्र पार करके युवती बन जाती है ? लोलिता···। मुझे, न जाने क्यों, वह उपन्यास एकदम अस्वाभाविक और गलत लगा था। गलत यानी झूठा और इस समय लग रहा है जैसे मेरी सारी यात्रा, दिल्ली मे जो कुछ देखा-सुना, वह सब झूठ था।

× × ×

पूरे दस दिन बाद बी० नगर लौटा हूँ। (अजय की तरह मुझे भी अपने इस शहर का नाम एकदम ही पसन्द नही है, हम दोनो ने मिलकर उसका नामकरण किया है—बी० नगर।) दस दिन—लग रहा है जैसे एक युग बीत गया; जैसे कही दूसरे ग्रह या लोक की यात्रा करके आया हूँ। अपना ही शहर बेगाना-सा जान पड रहा है, अपरिचित-सा। यहाँ का सब-कुछ कितना भिन्न है। सर्वव्यापी घटियापन—सँकरी सड़कें, जहाँ-तहाँ

ताँगे और रिक्शे और उनमें बैठे हुए एकदम मामूली स्त्री-पुरुष। यहाँ न स्कूटर है, न टैक्सी; उनमे बैठने लायक लोग भी शायद नही है। पिच्चानवें फ़ीसदी शक्लें एकदम मामूली है। दिल्ली दिल्ली है, राजधानी; खूबसूरत इमारतों, लिबासों और शक्लो का केन्द्र। और शिष्टता का। और यह बी० नगर आप ही बतलाएँ, ऐसे शहर मे रहकर कोई साहित्य या समीक्षा में नया आन्दोलन कैसे चला सकता है? इस पुराने फूहड़ वातावरण में नये, शुद्ध नये को समझने वाला कौन है? समयदेवता···ऊँह, अव वह कभी नही निकलेगी। दिल्ली से डॉ० पाल विज्ञापन दिलाएँगे? शायद; लेकिन शर्त यह है कि···

× × ×

निर्मला बहुत खुश है कि मैं वापस आ गया। लम्बी अनुपस्थिति की हलकी-सी शिकायत। यह शिकायत ट्यूशन की फीस को लेकर नही है, इतना मै समझता हूँ। 'दिल्ली तो बहुत वड़ा शहर है?'

'तुमने कभी नही देखा?'

'नही···सेमिनार कैसा रहा? उसमें कौन-कौन आया था?'

'मैंने जव अमिता का नाम लिया तो उसकी आँखें चमकने लगी। ज़ाहिर ही अमिता के वारे में उसमें उत्सुक और तेज जिज्ञासा थी।

निर्मला उतनी कम बुद्धि नही है। जाते समय मैं उसे ढेर काम वता गया था; कई लेखकों पर आलोचनात्मक निवन्ध, एक नायिका का चरित्र-चित्रण, कुछ काव्यांशों की लम्बी व्याख्या। उसने करीब-करीब सारा काम कर डाला है, और मुझे चाव से दिखा रही है। मुझे कुछ आश्चर्य है, और खुशी भी। वह ज़रूर दूसरी श्रेणी मे पास हो जाएगी···आज जैसे मैं खास तौर पर देख रहा हूँ कि निर्मला सही मानों में स्वस्थ है, उसके चेहरे पर ख़ास तरह की चमक और लुनाई है। आज लगा कि उसकी आँखो मे भी विशेष चमक आ गई है। न जाने कैसे, बिना मेरे कुछ कहे उसने भाँप लिया है कि मै उसके काम से सन्तुष्ट हूँ; शायद इसीलिए वह आज रह-रहकर हँस पड़ रही है।

'मुझे दिल्ली में कुछ ज्यादा दिन लग गये; तुम्हें वहुत चिन्ता हुई होगी, है ना?'

'नही'''हाँ, कुछ चिन्ता जरूर हुई थी, लेकिन मुझे विश्वास था कि आप आकर सारी कमी पूरी कर देगे। मैंने सोचा, आप जितना काम दे गये है सब पूरा कर लिया जाए।''' इलियट पर मेरा निवन्ध आपको कैसा लगा ?'

'ठीक ही है, काफ़ी ठीक है; इस तरह मेहनत करोगी तो शर्तिया पास हो जाओगी। और अच्छे नम्बरों से।' मुझे सचमुच आश्चर्य था कि निर्मला ने इलियट पर इतना अच्छा निवन्ध लिख लिया था। चेतना-प्रवाह वाले कथाकारों पर भी उसने अच्छा-खासा निवन्ध तैयार किया था।

अजय से भेट। लीजिए, इस वीच मे उसकी किताव पूरी-की-पूरी छप-कर आ गई। अव सिर्फ अनुक्रमणिका वाकी है, उस पर वह जुटा हुआ है, वह और उसके कुछ शोध-छात्र। किताव का गेट-अप अच्छा है। मुझे सतोप है। किसी भी किताव की विपय-वस्तु और लेखनशैली से पहले मैं उसकी वाहरी सज्जा पर नजर डालता हूँ। जव 'समयदेवता' निकलती थी तो समीक्षा-स्तम्भ के लिए पुस्तकें चुनते हुए मैं वरावर इस वात का ध्यान रखता था कि अच्छी साज-सज्जा वाली पुस्तको को तरजीह देकर चुना जाए। इसी आधार पर—घटिया गेट-अप के कारण—कुछ पुस्तकें उपेक्षित या नापसद भी कर दी जाती थी। कल जव मैं अजय से मिलने गया तो वह काफी व्यस्त था, इसलिए दिल्ली के वारे मे ज्यादा वात न हो सकी। फिर भी मैंने सक्षेप मे सेमिनार की कार्यवाहियो का विवरण दिया और सक्षेप मे ही डॉ० पाल, शशि और अमिता का जिक्र भी कर दिया। जल्दी ही लेखक-संघ की बैठक मे सेमिनार के सम्वन्ध मे चर्चा होगी। अजय अमिता के व्यक्तित्व में ज्यादा दिलचस्पी लेता हुआ नही जान पड़ा। अमिता के वारे मे पूछताछ करने के वदले उसने मुझसे दीपिका के वारे मे प्रश्न किया। मेरी इस सूचना से कि मै दीपिका से नही मिल सका, उसे निराशा हुई।

दीपिका से अजय का अच्छा परिचय और सम्वन्ध है यह मैं जानता हूँ, पर एक मामूली शक्ल की लडकी से कैसे उसका या किसी का घना लगाव हो सकता है यह मेरी समझ के परे है। यो दीपिका की वुद्धि और विद्वत्ता का मैं कायल हूँ। विद्वान् पिता की विदुषी वेटी—मैं कभी-कभी उसे खुश करने के लिए कह देता हूँ। लेकिन मैं उसकी या किसी भी महिला की

विद्वत्ता को उतना महत्त्व नही देता जितना कि अजय देता जान पड़ता है।

× × ×

कॉफ़ी हाउस। सब-कुछ वटिया और वोगस। डॉ० मदन : आज उनकी वेगम साहिवा वहुत ही मामूली जान पडीं। आजकल डॉ० मदन परेशान हैं; उत्तरी सीमा पर चीनी लोग लगातार उपद्रव कर रहे है। ढोला चौकी के करीब चीनियो का जमाव। कोई बात नही, हिन्दी-चीनी भाई-भाई! चीनी लोग नमकाचू नदी के इस ओर : यह नमकाचू नदी कौन-सी है? गंगा, यमुना, कृष्णा, कावेरी···भला नमकाचू नदी का नाम किसने सुना है? सुनते हैं कि ढोला चौकी के आसपास चीनी सिपाहियों की संख्या छह सौ से कम नही है। उनसे निपटने के लिए एक पूरी वटालियन चाहिए। जनरल दौलतसिंह ने रक्षामत्री से कहा : 'अगर हमने नेफा मे चीनियो से लड़ाई मोल ली तो लद्दाख में वे हमे खत्म कर देगे।' एक साहब कहते है, यह मामला क्या है; पहले से क्या ये लोग सो रहे थे? रक्षामत्री ने हमें तवाह कर दिया। सिर्फ रक्षामत्री को दोष क्यों देते है जी, दोषी भारत सरकार है। जी हाँ, नेहरू भी। जानते है, नेफा में हिन्दुस्तानी सिपाहियों की हालत वहुत खराव है। उनके पास हर सामान की कमी है; न पूरे आदमी हैं, न पूरे हथियार; सड़के भी नही है जिन पर सुरक्षा और लड़ाई का सामान ले जाया जा सके। सिपाहियो को पूरा भोजन नही मिल पाता, उनके पास ऐसे कपडे भी नही जो हिमालय की ठड से रक्षा कर सकें। अभी ही हालत खस्ता है, ठंडा मौसम आने पर न जाने क्या होगा।

रक्षामंत्री वरावर कहा करते थे कि हमारा देश किसी भी आक्रमणकर्ता के विरुद्ध अपनी हिफाजत कर सकता है, फिर···?

तीस सितम्वर। रक्षामत्री ने कहा : भारत सरकार की इस समय यह नीति है कि शीत ऋतु आने से पहले नेफा मे चीनियों पर समुचित दबाव डाल दिया जाय, जिसका उन पर असर हो।

२ अक्टूवर। जनरल थापर ने प्रधानमंत्री से कहा : हम पहली वार चीनियों के खिलाफ शक्ति का उपयोग करने जा रहे है, इसका गम्भीर असर और प्रतिक्रिया होगी। प्रधानमंत्री को यह विश्वास है कि चीनी लोग हमारे खिलाफ़ कोई शक्तिशाली कदम नही उठाएँगे।

चीनी लोग नेफा-क्षेत्र में अपना दावा स्थिर करना चाहते है, इसके लिए वे ढोला चौकी में आना चाहते हैं; हमे इस चौकी को वचाना है, नही तो सरकार जनता का विश्वास खो देगी। जनता अधीर हो रही है, जनता क्षुब्ध है; यह जरूरी है कि जनता की आस्था सरकार मे वनी रहे।

सरकार ने चीन से मित्रता का गठवन्धन इसलिए किया था कि चीन एक एशियाई देश है, कि हम पंचशील मे विश्वास रखते है, कि दोनो देशों के वीच शान्ति का सम्वन्ध वना रहे। क्या आप वतलाने की कृपा करेंगे कि इनमे असली और ज्यादा महत्त्वपूर्ण उद्देश्य कौन-सा था ?

१० अक्टूवर। जेगजांग क्षेत्र मे चीनियों का आक्रमण। ५०० चीनी सैनिक ५० भारतीय सिपाही। ऊँचाई से भारतीयो द्वारा गोली-वर्षा, चीनियों की क्षति। सवेरा, चीनियो का पुन' आक्रमण। जी, लड़ाई चीनियों ने शुरू की—और यहाँ ! जेंगजांग का परित्याग।

१३ अक्टूवर। लका जाते हुए नेहरू ने कहा : हमने भारतीय सेना को निर्देश कर दिया है कि वह चीनियो को भारत की सीमा से वाहर खदेड़ दे।

२० अक्टूवर, अलस्सुवह। ढोला क्षेत्र मे चीनियो का भारी आक्रमण। पुल नम्बर तीन और चार के वीच मे चीनियो ने जहाँ-तहाँ नमकाचू नदी को पार किया। रेडियो पर खवरें। प्रधानमत्री कह रहे हैं चीन ने हम पर हमला किया है, चीन को हम मित्र मानते आये है, हमारे मित्र और पडोसी ने पीछे से छुरे का वार किया है। पंचशील के पुरस्कर्त्ता साथी ने वेशर्मी से शील-सौजन्य का गला घोटा है।

२२ अक्टूवर। भारतीय सिपाही तावाग क्षेत्र से हटे। जनता मे क्षोभ। रक्षामत्री की जहाँ-तहाँ कटु आलोचना।

पाकिस्तान रेडियो का खुशीभरा स्वर, चीनी रेडियो का विपाक्त प्रोपेगेण्डा। क्या हमे विदेशों से सहायता माँगनी चाहिए ?

२६ अक्टूवर। कल चीनियों ने तावांग पर कब्जा कर लिया। जनता में पराजय-जन्य आक्रोश। धीरे-धीरे लोग यह सुनने के अभ्यस्त होते जा रहे हैं कि चीनी सेना निरन्तर नेफा की ओर वढ रही है। 'यदि चीन ने नेफा पर अधिकार कर लिया तो उसके लिए सिक्किम, भूटान और नेपाल पर आक्रमण करना सरल हो जाएगा।' रेडियो पर भाषण करते हुए नेहरू

ने कहा : 'वक्त आ गया है कि हम अपने लोगों और अपने मुल्क के सामने आये इस ख़तरे (चीनियो के आक्रमण) को पूरी तौर पर समझे। देश की आज़ादी और अखण्डता को कायम रखने के लिए हमे पूरी तैयारी करनी है, और कमर कसनी है; और स्वतन्त्रता के वाद आये इस सबसे वड़े ख़तरे का सामना करना है।'

× × ×

लोग अब सरकार की आलोचना नहीं करते।···अब हम लोग सचमुच एक लम्बे युद्ध के लिए तैयार हो रहे हैं। जनता से चन्दा इकट्ठा करने के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा-कोष खोला जा रहा है। बाहर से भी सहायता आने लगी है।

६ नवम्बर। लेखक-संघ की उत्तेजनापूर्ण वैठक। राजनीति विभाग के अध्यापक डॉ० सत्येन्द्र ने भारत-चीन सम्वन्धो के इतिहास पर प्रकाश डाला। भारत ने चीन की भलाई के लिए क्या नही किया ? १ अक्टूबर, सन् १९३९ को हमने सवसे पहले चीनी गणराज्य को मान्यता प्रदान की। सितम्बर १९५० में हमने चीन को सयुक्त राष्ट्रसघ का सदस्य वनाने का प्रस्ताव रखा। अक्टूवर, सन् '५० में चीनी सेनाओ ने तिब्वत मे प्रवेश किया; मित्रता का निर्वाह करते हुए हम उस समय चुप रहे। फरवरी, '५१ में भारत ने सयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा मे उस प्रस्ताव के विरुद्ध मतदान किया, जिसमें चीन को आक्रामक घोषित किया गया था। २८ जून, सन् '५४ में चीनी गणराज्य के प्रधानमत्री चाऊ एन० लाई और प० नेहरू ने पचशील की विज्ञप्ति पर साथ-साथ हस्ताक्षर किये···आज हम देख रहे हैं किस तरह चीन हमारी मित्रता का एवज़ दे रहा है और कैसे पंचशील का निर्वाह कर रहा है।

वर्मा जी ने उठकर संयत-गम्भीर स्वर में कहा : 'भाइयो और वहनो, आप जानते ही है कि आज की इस वैठक का उद्देश्य क्या है। आज हमारे इतिहास में एक अभूतपूर्व संकट का समय आकर उपस्थित हुआ है। एक बेहया, धूर्त और विश्वासघाती देश ने हम पर हमला किया है। वह निरन्तर आगे बढ़ता आ रहा है, ठीक वैसे ही जैसे महायुद्ध के प्रारम्भ मे हिटलर बढ़ता चला गया था। यह भी निश्चित है कि दुश्मन का पतन होगा, ठीक

वैसे ही जैसे हिटलर का पतन हुआ था। पर उसके लिए हमें प्रयत्न करना होगा। हमे, हमारी जनता को जागृत और सचेष्ट रहना है। जनता को जागृत और सचेष्ट बनाने का काम मुख्यतया लेखकों का है। आज हमारे लेखको की वाणी मे बिजली भर जानी चाहिए। उनकी हुंकार की गूंज नगर-नगर मे, गाँव-गाँव मे पहुँचनी चाहिए, जिससे जनता मे उत्साह और उमग का उफान पैदा हो। मेरी तो राय है कि देश मे जगह-जगह नवयुवक कवियो, संगीतज्ञो और वक्ताओ की टोलियाँ बननी चाहिएँ और उन्हे देश के कोने-कोने मे जाकर अपनी ओजस्विनी कविताओं, प्रेरणादायक गीतों और उत्तेजक वक्तृताओं के जरिए जन-जन मे राष्ट्रप्रेम संगठन और शत्रु-विनाश की भावनाएँ फैलानी चाहिए। इस महान् कार्य को सम्पन्न करने मे जितनी सफलता हम लेखकों के कार्य से मिल सकती है, उतनी किसी दूसरे प्रचार-साधन से नही।

वर्मा के बाद वाजपेयीजी उठे। उनके भाषण का विषय था, वीरपूजा। हमें जनता मे वीरपूजा की वृत्ति को प्रोत्साहित करना चाहिए। 'नारी और जनता स्वभावतः वीरपुरुष को पसन्द करती है। हमारे लेखकों को वीरसैनिकों और इतिहास-प्रसिद्ध योद्धाओ की प्रशंसा मे कविताएँ लिखनी चाहिए और जनता मे वीरपूजा की भावनाओ का प्रचार करना चाहिए।'

इन दिनों लेखकों, अध्यापकों और छात्रों के बीच खासा उत्साह और चहल-पहल है। तेजपुर को जीतने के बाद चीनियो ने अपनी ओर से युद्ध-विराम की घोषणा कर दी। शीघ्र ही उन्होने अपनी सेनाएँ पीछे हटाने का वचन दिया है···लोगो के जोश को देखते हुए लगता है काफी अरसे तक हमारा युद्ध-प्रयत्न जारी रहेगा। राष्ट्रीय रक्षा-कोष मे तेजी से धन इकट्ठा किया जा रहा है। अध्यापक और दूसरे नौकरीपेशा लोग अपने-अपने वेतन में से एक से दस प्रतिशत तक रुपया दे रहे हैं; औरतें छोटे-बड़े गहने दान कर रही हैं।

बम्बई मे फिल्मी सितारो ने एक समारोह मे चन्दा दिया, किसी ने पचास हज़ार, किसी ने पचीस, ग्यारह, पाँच हजार। उन्होने जनता से भी चन्दा इकट्ठा किया।

इलाहाबाद मे लेखकों ने एक प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर किये। 'हमारी लेखनी समर्पित है मातृभूमि के इस मुक्ति-संग्राम के लिए···देश की अपराजेय आत्मा का स्वर हमारे कण्ठ मे उतर सके यही हमारी परीक्षा होगी, यही हमारी सौगन्ध है···।'

'जब तक हमारा देश आक्रमणकारियों से मुक्त नही हो जाता तब तक हमारे चिन्तन और लेखन का सर्वप्रधान लक्ष्य हर प्रकार से इस मुक्ति-संग्राम मे योग देना है···।'

दिल्ली में वृहत् 'हिमालय बचाओ सम्मेलन' होने वाला है, सर्वदलीय सम्मेलन। हिमालय और कालिदास। 'कुमारसभव' की दो-चार पक्तियों ने इधर कालिदास का नाम सबकी जुबान पर चढा दिया है। कुछ लेखक योग्य हों न हों, भाग्यशाली जरूर होते है। मैं पूछता हूँ, क्यो कालिदास का इतना ज्यादा नाम है ?···नयी कविता, नये प्रतिमान; मेरा मित्र अजय कालिदास का विशेष भक्त है। भक्त—यद्यपि उसे यह विशेषण एकदम ही पसन्द नही है।

क्यों नही हम कविता के प्रतिमानों को बदलकर कालिदास को घटिया घोषित कर सकते ? मजा यह है कि चीन के आक्रमण ने भी लोगों को कालिदास की याद दिलायी, जैसे नयी कविता का कही अस्तित्व ही नही है !

आप जानना चाहते होंगे कि इधर मैं क्या सोचता—महसूस करता रहा हूँ—मैं जो भीड मे नही खोना चाहता ? मैं पाता हूँ कि मेरे मन में चीनियों के प्रति सूक्ष्म घृणा और प्रतिशोध की भावना है ! काश कि हम उन्हे वैसे ही धोखा देकर लाचार बना सकते जैसा उन्होंने हमारे साथ किया है। हमारी हार सिर्फ सैनिक हार नही है, दिमागी हार भी है। हमारे शासक कूटनीति के कच्चे खिलाडी हैं, वे गलत ढंग पर आदर्शवादी हैं। वे जरूरत से ज्यादा बातें और भाषण करते है। वे शासक बनने योग्य नही है। उनमे से अधिकांश का आदर्शवाद महज ढोग और छलावा है।

यदि तुम्हे प्रधानमत्री या रक्षामत्री बना दिया जाए तो ? कैसा अजीब सवाल है · तब शायद तुम इस फिक्र में पड जाओगे कि कैसे हर आकर्षक लगने वाली औरत तुम्हे मिल जाए···तुम खूब आन-बान-शान से रहो,

जगह-जगह तुम्हारी चर्चा हो—ऐसी चर्चा जिसके तुम पात्र नही हो।

'श्री रणधीर निगम कुशल शासक ही नही, अच्छे लेखक और वक्ता भी है। सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी : कवि, कहानी-लेखक, पत्रकार।' वगैरह-वगैरह। इलाहाबादी लेखक सचमुच बड़े देशभक्त हैं, तेजस्वी और देशभक्त, बढ़िया वक्तव्य निकाला है।...अजय, कुछ दृष्टियो से, मुझसे भी कम विश्वासी है। कहता है : चीनी हमारी सीमा मे बने रहेंगे और थोडे ही दिनो मे ये लेखक भूल जाएँगे कि उन्होने कोई प्रतिज्ञा की थी। वे तुम्हारी तरह विशुद्ध अनास्थावाद और निषेधवाद का प्रचार करेंगे।

'तुम्हारी तरह', मैं इस प्रच्छन्न व्यग्य का क्या जवाब दे सकता हूँ ?

इलाहाबादी लेखक अपने को विशेष प्रगतिशील मानते आये है, उसी निसबत मे वे अनास्थावाद का प्रचार भी करते रहे हैं। अजय को नही मालूम कि इस दृष्टि से दिल्ली के लेखक इलाहाबाद से कही आगे हैं। और मैं ? मैंने अजय से कहा कि अनास्थावादी व्यक्ति कम या कच्चा देशभक्त होता हो, ऐसी बात नहीं है, कि मेरे मन मे चीनियों के प्रति किसी से कम आक्रोश और घृणा नही है।

'आक्रोश और घृणा—क्या इन्हें देशभक्ति भी कहा जा सकता है ?'

'तुम्हारा मतलब ? तुम कहना क्या चाहते हो ?'

'मैं जानना चाहता हूँ कि तुम्हारी देशभक्ति का अर्थ क्या है ? जिसे देश के अतीत इतिहास और उपलब्धियो से कोई लगाव न हो, देश के ऐतिहासिक महापुरुषो मे गौरव की भावना न हो, जो...'

अजय का विचार है कि हमारी मौजूदा झुंझलाहट और खीझ यह सिद्ध नही करती कि हम देश-प्रेमी है, वह सिर्फ इसकी दलील है कि हम अपने अस्तित्व को खतरे मे पाकर पशुओ की तरह एक झुड मे इकट्ठे हो रहे है। असली देश-प्रेम की जडे ज्यादा गहरी होती हैं और जरूरी नही कि वह अपने को उत्तेजित नारेबाजी मे जाहिर करे।

अजय कहना क्या चाहता है ? यह कि उसे जो सही मानी में देश-प्रेमी है, आस्थावान होना चाहिए, अतीत की उपलब्धियो मे गर्व का अनुभव करने वाला; मनुष्य मे, उसके विगत और भविष्य दोनो में, अनुराग और आस्था रखने वाला ? जाहिर ही इस मान्यता मे कही गड़बड़ है।

गडवड़—अजय यह एकदम ही स्वीकार नही करता। देश-प्रेमी वही हो सकता है जिसे मनुष्य से प्रेम है, यानी मानवता से; और जो मनुष्य के भले प्रयत्नो को श्रद्धा और ममता से देख सकता है···

ना वावा, वैसा देश-प्रेमी होना तुम्हारे वश की वात नहीं है। तुम··· तुम···शायद खुद अपने प्रति भी श्रद्धा और ममता नही रखते।

शायद तुम्हे सारे आदर्शवादी सपनो और संकल्पो की अपेक्षा खूवसूरत औरत का—खासतौर पर अमिता जैसी महिला का—सम्पर्क ज्यादा रुचिकर होगा। क्या कहा डिकेडेन्ट—मैं पूछता हूँ क्या मेरा सारा देश, और युग, डिकेडेन्ट नही है? फिर···?

× × ×

चीन की युद्ध-विराम घोषणा। चीन की फौजो ने हटना शुरू कर दिया है। उन्होने तय किया है कि वे युद्ध-विराम रेखा से वारह मील उत्तर हटेंगे; हमे भी वारह मील दक्षिण हटना है। उतना हटकर भी चीनी हमारी सीमा मे ही रहेगे।···सरकार और जनता बार-बार इस निश्चय को दुहरा रहे हैं कि हमे चीनियों को, निकट भविष्य मे, अपनी सीमा से वाहर खदेडना है। आज कॉफी हाउस में अच्छी भीड़ थी। डॉ० सत्येन्द्र कह रहे थे · चीनी युद्ध से एक फायदा हुआ—भारतीय जनता मे, एक नई जागृति के साथ-साथ, स्वतः एकता की भावना जाग गई। जिस भावनात्मक ऐक्य की स्थापना एक विकट समस्या वन गई थी, वह चीन के हमले से अपने-आप उपलव्ध हो गया।

'सचमुच', डॉ० मदन ने कहा, 'इस समय जान पड़ता है कि जैसे देश के लोगों मे कही किसी तरह का मतभेद था ही नही, चीन के आक्रमण ने वढ़िया सीमेन्ट का काम किया है।'

स्पष्ट ही युद्ध-विराम से लोग खुश है। कुछ लोगो को डर है कि कहीं जनता का दुश्मन के विरुद्ध उमडा हुआ उत्साह ठंडा न हो जाए।

अव चीन का खतरा सामने है भी, और नही भी है। प्रधानमत्री के रक्षाकोष मे लगातार इजाफा हो रहा है। जनता ने नेहरू की गलतियों को, नजर-अन्दाज करते हुए, कितनी जल्दी भुला दिया! इसे उनकी वेदाग़ देशभक्ति का ही जादू समझना चाहिए। इस समय, जव कि धीरे-धीरे

जनता का जोश उतार पर है, शायद उन्हे ही देश की सैनिक शक्ति को बढ़ाने की सबसे ज्यादा फिक्र है।

आज लेखक-संघ की बैठक मे एक अजीब स्थिति देखी गई। जान पड़ा कि नगर के साहित्यिको को जबरदस्ती दो वर्गों मे बाँट दिया गया है, एक वे जो युगधर्म का निर्वाह कर रहे है, और दूसरे वे जो शाश्वतवादी यानी युगधर्म के विरोधी हैं। यह विभाजन वाजपेयी और वर्मा के दल की ओर से किया जा रहा है। जाहिर है कि वे लोग युगधर्म के पक्ष मे है; दूसरे पक्ष मे वे लोग है, जिन्हे किसी कारण से, उक्त दल वाले पसन्द नही करते। मीटिंग मे तीखे व्यग्य के साथ नाटकीय और सन्तोष सूचक स्वर में, कुछ वक्ताओ ने यह बतलाया कि तथाकथित शाश्वतवादी लेखक न सिर्फ देश के बल्कि साहित्य के भी शत्रु है। इस तरह के लेखको से, जो प्रचुर मात्रा मे अमेरिकी पैसा भी पाते हैं, देश के लोगों को सावधान रहना चाहिए।

शुरू मे हममे से कुछ लोग यह जानना कठिन पा रहे थे कि इस तरह के कटु आक्रमण का कारण और लक्ष्य कौन है; धीरे-धीरे हमे यह जानकर हैरत हुई कि उसका लक्ष्य अजय, मै और हमारे ही दूसरे साथी थे। इधर वर्माजी का एक नाटक, पाण्डेयजी की दो-तीन कहानियाँ और कई लेखकों की कविताएँ चीन-भारत सघर्ष को लेकर लिखी गई थी। धीरे-धीरे यह बात फैलने लगी कि नगर के कुछ लेखक, ख़ासतौर से वे जो 'समयदेवता' से सम्बन्धित रह चुके थे, वैसी रचनाओ को प्रशसा और प्रोत्साहन नही दे रहे थे। यह प्रचार बहुत-कुछ बेबुनियाद था; मैंने और अजय ने भी यह कभी नही कहा कि रचनात्मक साहित्य मे चीन या उसके आक्रमण का जिक्र नहीं आना चाहिए। हम लोगो की राय कुछ दूसरी ही थी, और है; लेकिन कोशिश यही दिखाने की हो रही है जैसे हम लोग राष्ट्रीय साहित्य के लिखने और चीन के विरुद्ध उत्तेजना फैलाने को साहित्य और साहित्यकार का निजी काम न मानते हों। बैठक मे कई वक्ता ऐसे ही ढग से बोल रहे थे; शब्दो का तोड-मरोडकर प्रयोग करते हुए भी वे यह जाहिर कर दे रहे थे कि उस तरह के लेखक और चिन्तक कौन-कौनसे है। जहाँ तक मेरा ताल्लुक है मैं वैसे वक्ताओ की ओर ज्यादा ध्यान और उन्हे ज्यादा महत्व नही दे रहा था। मैने उनका प्रतिवाद करना भी जरूरी नही समझा। इस

तरह का प्रतिवाद करना एक तरह से यह स्वीकार कर लेना है कि आप वह है जो आप के विरोधी आप को दिखाना चाहते है। इसलिए मैं कहूँगा कि गलती अजय की थी; न वह उठकर इस निरर्थक बहस मे भाग लेने की कोशिश करता, न लोगों को खुल्लमखुल्ला उस पर यह इल्जाम लगाने का मौका मिलता कि वह शाश्वतवाद के नाम पर प्रतिक्रियावाद का प्रचार कर रहा है।

पोशीदा रूप में यह भी इशारा किया गया कि इस तरह के प्रतिक्रियावाद का गूढ़ कारण अमेरिकी डालर का आकर्षण ही हो सकता है, वगैरह-वगैरह। अजय ने जो कहा वह गलत नही था : यह कि साहित्य का काम देश के चरित्र को अन्दर से ढालना और बदलना है, कि हमारी देशभक्ति सिर्फ क्षणिक आवेश नही होना चाहिए, कि···लेकिन उसे जानना चाहिए था कि इस सरह की गम्भीर बाते वैसे मजमे में सुनाने लायक नही होती। यही वजह थी कि उसके पक्ष मे बोलने के लिए कोई वक्ता खड़ा नही हुआ। मैंने भी यह उचित नही समझा कि उठकर उसका समर्थन करूँ। यो अजय के दिमाग को समझना सहल नही है; वह अपने समर्थक के प्रति हमेशा कृतज्ञता ही महसूस करे, यह जरूरी नही है। अगर आपका या मेरा समर्थन घटिया स्तर का हुआ, तो वह उसे हरगिज पसन्द नही करेगा। उस दशा में यह आशंका भी हो सकती है कि वह खड़े होकर अपने समर्थको के बारे में कह दे कि वह उनके तर्कों या विचारों, से सहमत नही है। सच यह है कि अजय आलोचना और समर्थन की उतनी परवाह नही करता जितनी इसकी कि लोग सचाई को ठीक रूप मे समझें। कोई बात सिर्फ इसीलिए गलत नही हो जाती कि उसे ऐसे व्यक्ति ने कहा है जो अक्सर मेरा या उसका विरोध करता है, वैसे ही, किसी समर्थक के कहने भर से कोई बात सही भी नही हो जाती। नतीजा यह कि अजय तथाकथित समर्थको को भी बाँधकर नही रख पाता। इसीलिए, समर्थ लेखक होने के बावजूद, आज साहित्य-जगत् मे उसका कोई निजी दल नही है।

× × ×

इधर कुछ दिनों से निर्मला की पढ़ाई अनियमित ढंग से चलती रही है। कभी एक दिन का, कभी दो और तीन दिन का भी अतर देकर मैं उसके

यहाँ पहुँचता रहा हूँ; लेकिन न उसने न उसकी माँ ने ही आज तक कभी किसी तरह की शिकायत की। उन दोनो ने पूरी तरह यह मान लिया है कि निर्मला की परीक्षा की चरम जिम्मेदारी मेरी ही है, और यह भी कि मैं अपनी जिम्मेदारी को निभाऊँगा। इतना ज्यादा विश्वास कभी-कभी खल जाता है, फिर भी ··सच यह है कि निर्मला की परिश्रमशीलता के कारण, मुझे उसके लिए जिम्मेदार मान लिया जाना अरुचिकर नही लगता।··· निर्मला को लेकर इधर कभी-कभी एक नई किस्म की अनुभूति हुई है, एक खास तरह की सुखद तृप्ति। हर शिक्षक को यह जानकर सतोष होता है कि शिष्य लोग उसका आदर करते है। यह आदर प्रकट करने के कई तरीके हो सकते है। कुछ विद्यार्थी अपनी गतिविधि, खडे होने, आगे-पीछे रहने और चलने के ढग से इस तरह आदर प्रकट करते है कि वह देख लिया जाए। लेकिन ये तरीके कालेज मे ही सभव होते हैं। विशुद्ध हिन्दुस्तानी लड़कियाँ, जैसी कि निर्मला है, वैसे तरीकों का कम ही उपयोग कर पाती है। निर्मला का ढग बिल्कुल अलग और अपना है, वह जैसे आपको नही आपकी बातों को आदर और महत्त्व देती है। आप जो कुछ जितना जोर देकर कहेगे, उसका उसके लिए ठीक उतना ही महत्त्व होगा। उसकी नजर मे आपका कोई भी आदेश-निर्देश निरर्थक या महत्त्वशून्य नही है। आपके कहे-सुने को वह जैसे अपनी समूची चेतना से सुनती और सहेजकर रख लेती है। आप आश्चर्य करते है कि आपकी बोली-कही बातो मे से इतनी ज्यादा सामग्री चुनकर किसी ने अपनी मन-बुद्धि मे उतार ली है।

यह स्थिति तरह-तरह की प्रतिक्रियाएँ पैदा करती है। यों शिष्य और शिष्या मे उतना अन्तर नही होना चाहिए। फिर भी·· हम, यानी पुरुष, यानी मैं—क्या आप बतलाने की कोशिश करेगे कि मेरी और आपकी जरूरतें क्या है? क्या सचमुच पुरुष यह चाहता है कि कोई ऐसी लड़की या स्त्री हो, उसके करीब, उससे सम्बन्धित, जो उसके उन विचारो से, जिन्हे वह अहमियत देता है, निरतर लाभान्वित होती जान पड़े? मुझे लगता है कि बात सिर्फ इतनी ही नही है, और उसका सम्बन्ध सिर्फ विचारो से भी नही है। जान पड़ता है जैसे अपनी मन-बुद्धि के कुछ ऐसे तत्त्वो को, जिन्हें आप खास तौर से निजी और महत्त्वपूर्ण मानते हैं, एक दूसरे व्यक्तित्व मे

पहुँचकर आग्रह के साथ पकड़े-संजोए जाते और फल देते देखकर अजीब-सी गुदगुदी और तृप्ति होती है—खासकर उस स्थिति में जब वह व्यक्तित्व किसी महिला का हो।

मैं यह कभी विश्वास नही कर सकता था कि मैं, उदाहरण के लिए इलियट के बारे मे, बारीक और जटिल ढग से जो कुछ कहता रहा हूँ वह सब निर्मला पकड सकी होगी; मुझे उसकी बुद्धि में कभी इतनी आस्था नही रही। पर हुआ ठीक यही, तभी तो मैं उसके निबध को पढ़कर दग-सा रह गया। यही नही, उस निबन्ध मे कुछ ऐसी बातों का भी समावेश था जिनका संकेत मेरी बातचीत में नही किया गया था। कुल मिलाकर मुझे यह स्थिति बेहद रोचक जान पड़ी कि निर्मला ने इलियट के सम्बन्ध मे मेरी प्रतिक्रियाओं को इतनी दूर तक समझा और शब्दबद्ध किया; यह और भी रुचिकर लगा कि उसने, किताबों के माध्यम से, इलियट के बारे मे कुछ नई जानकारियाँ हासिल कर ली।···मुझे इधर ऐसा महसूस हुआ कि निर्मला, किसी अबसमझी प्रक्रिया से, एकाएक मेरे ज्यादा करीब खिच आई है।

कल रात मुझे बुखार हो गया था। शाम से ही तबीयत गिरी-गिरी-सी थी। निर्मला को पढाने गया था, पर बे-मन से। पढ़ाते वक्त, लगभग साढ़े पाँच बजे ठंड महसूस हुई। निर्मला ने कहा : कुछ-कुछ ठड होने लगी है, आपको स्वेटर पहनना चाहिए। उसे शायद मालूम न था कि मै कमीज के अन्दर एक हलका ऊनी स्वेटर पहने हुए था। अन्दर स्वेटर पहनने के कई फायदे हैं। असली बात यह है कि मुझे कमीज के ऊपर बिना बाँह का स्वेटर पहनना पसन्द नही है। ज्यादा ठड होने पर मैं बाँह वाला स्वेटर पहनता हूँ; वह कोट का काम भी करता है, और आप उसमे तगडे और चुस्त भी दिखाई देते है। मेरी निश्चित राय है कि मेरे जैसे इकहरे जिस्म के आदमी को फुल-स्लीव स्वेटर पहनना चाहिए। सूट के साथ स्वेटर पहनना भी मुझे पसन्द नही है, वह मुझ पर, न जाने क्यो, अधेड उम्र और विटामिन खाकर चलने वाले शरीर की छाप डालता है। इसीलिए आपको यह जानकर ताज्जुब नही करना चाहिए कि मेरे पास बिना बाँह का स्वेटर एक भी नही है। सुधा जीजी ने एक-दो बार बडे मीठे निमन्त्रण के स्वर मे मुझसे कहा : 'भैया, तुम्हारे लिए एक स्वेटर बुन दूँ ?' सुधा जीजी का अहसान लेना

मुझे एकदम ही पसन्द नही है। इसलिए कह दिया, 'जीजी, स्वेटर वुजुर्ग लोग पहनते है, या फिर वच्चे।' 'जीजाजी स्वेटर पहनते हैं ठीक ही है: वह दो वच्चों के वाप है न!' 'तो तुम अपने को क्या समझते हो, तुम अव वच्चे नही हो; शादी हो गई होती तो तुम भी कभी के वाप वन गये होते।' 'शादी, और मेरी? जीजी, यो ही अपने देश मे आवादी वढ रही है।'

नतीजा यह कि अपने पास स्वेटर-ऐटर ज्यादा नही है। सच यह कि अपने पास ऊनी कपडे कम ही है। एक सूट, एक-दो फालतू पैन्टे, और दो फुल-स्लीव स्वेटर। यों अपने पहनने-चलने का तरीका ऐसा है कि लोग रौव मानते है। चूंकि पिताजी नियमित रूप मे डेढ-सौ रुपए भेज देते है, यार लोग समझते है कि मैं छोटा-मोटा रईस हूँ।

यों मैं आपको यक़ीन दिलाता हूँ कि मुझे ठण्ड ज्यादा नही लगती। अक्सर चाय-कॉफी लेता रहता हूँ, जिससे गर्मी मिलती रहती है। लेकिन जो एकाएक ठण्ड महसूस होने लगी थी वह कुछ निराली किस्म की चीज थी। हमेशा की तरह निर्मला ने चाय वनाकर पिलाई थी, पर उससे कुछ फर्क पडता नही जान पडा। उसे कुछ काम वतलाकर मैं चला आया।

इस वक्त दिन के दो वजे है, मैं कम्वल ओढे लेटा हूँ। कुछ देर से भीतर-ही-भीतर ठण्ड का अहसास होता रहा है। अजीव-सी वेचैनी, कमजोरी भी। मुझे सदेह हो रहा है कि वुखार भी है—या यह कि धीरे-धीरे ज्वर का आक्रमण हो रहा है। रात भी इसी तरह ज्वर हो गया था।

सात वजे शाम। दो-तीन घण्टे पहले पडोस के नौकर विरजू को भेजकर अपने मित्र डॉ० सुरेश से दवा मँगवाई थी। कहला दिया था कि मुझे जाडा-वुखार है। सुरेश की वायोकेमिक दवाएँ अक्सर वढिया असर कर जाती है। जव दवाएँ ली थी तव कुछ देर को आराम महसूस हुआ था। तव सोचा था निर्मला को पढाने जाऊँगा। थोड़ी ही देर को सही, पहुँच जाने पर कुछ काम हो ही जाता है। वार वार, एक या दूसरे वहाने से, ट्यूशन से गैर-हाजिर होना मुझे पसन्द नही है। सवाल उतना हाजिरी का नही जितना अपनी जिम्मेदारी को निभाने और काम पूरा करने का होता है। निर्मला और उसकी माँ विल्कुल ही शिकायत नही करती, इससे जिम्मेदारी का अहसास और भी वढ़ जाता है।

लेकिन आज सुरेश की दवाएँ फेल कर गईं। विशेष लाभ नही हुआ और मैं निर्मला को पढाने नहीं जा सका। इस वक्त तवीयत एकदम ही ठीक नही है, और भयकर ऊव भी हो रही है।

चार-पाँच वजे से नौ-दस वजे तक शाम के वक्त मैं अपने कमरे में शायद ही कभी रहता होऊँ। एक-डेढ़ घण्टे कही ट्यूशन में, और फिर दो-एक दोस्तों से मिलते-जुलते, सदर बाज़ार के 'किताव घर' या किसी दूसरी पुस्तकों की दुकान में कुछ देर पत्र-पत्रिकाओ और नई आई पेपर-वैक कितावों का मुआइना करते हुए धीरे-धीरे कॉफ़ी-हाउस पहुँच जाना—यही अपनी दिनचर्या है, या साँझचर्या। शाम की घड़ियों मे, किसी भी लाचारी से, कमरे मे पड़ा रहना मुझे वेहद खराव जान पड़ता है। और फिर ऐसी स्थिति में जव मैं विल्कुल अकेला होऊँ, और बीमार। मेरे अन्दर जैसे यह भावना है कि कमरे मे बिताई हुई शाम मनहूसियत का संकेत देती है। आज की शाम तो और भी मनहूस जान पड़ रही है। जी हाँ, जिस शाम में आपका एकमात्र साथी जाडा-बुखार यानी जाड़े को साथ लेकर आता हुआ ऊँचा टेम्परेचर हो उसे मनहूस नहीं तो क्या कहा जायेगा?

× × ×

इधर तीन-चार दिनों में वहुत-सी वाते घटी हैं। मैं अपने को अजीव-सी हालत मे पाता हूँ। या तो मैं ही बदल गया हूँ, या फिर मेरे इर्द-गिर्द की दुनिया। दिन के ग्यारह वजे है। नौ वजे कुछ नाश्ता लिया था, तभी से पड़ा कुछ-कुछ सो रहा था। सोना···यह अजीव बात है कि मैं और आप सव हर दिन, यानी हर रात, नियम से घटों-घटों तक सोये पड़े रहते हैं। सोकर जागा हूँ, फिर भी जैसे पूरा-पूरा जागृत नहीं हूँ। जैसे अर्ध-स्वप्न की हालत हो; मन मे आ रहा है अपनी अध-सोयी चेतना की समूची संवेदना को नोट-वुक में उतार दूँ। कल-परसो से ऐसा लग रहा है जैसे दुनिया एकदम ही वदल गई है। चारों ओर अजीव-सी खामोशी और शान्ति छाई जान पड़ती है। कल सुरेश ने इशारा किया था कि मेरे कानों पर एण्टी-वायोटिक दवा का कुछ खराव असर पड़ा है। परसों डॉ० चंदोला आए थे; सुरेश के दोस्त हैं इसलिए फीस नही ली। तो मुझे फ्लू हो गया था; मुझे इसलिए नहीं वतलाया कि नाहक परेशानी होगी। मेटासिन और एन्टी-वायोटिक कैप्सूल।

मेरी सलाह है कि आप इन दवाओं के नाम याद कर ले, वक्त पर काम आएँगे। सिर्फ दो दिन मे टेम्परेचर गायब ! यह मेटासिन क्या चीज़ है ? और यह अर्ध-सुप्ति का वातावरण। सुरेश कहता है : फ्लू के बाद अक्सर ऐसी हालत हो जाती है। एण्टी-बायोटिक कैप्सूल भी बहुत तेज़ होते हैं; लेकिन तुम्हारी हालत ऐसी थी कि दूसरा चारा न था। मैं अपनी दवाएँ और आजमाता, लेकिन कभी-कभी न जाने क्यों होमियोपैथिक और बायो-केमिक दवाएँ असर ही नही करती।

उस दिन शाम कैसी खराब लग रही थी ! फिर एकाएक सब-कुछ कैसा बदला हुआ लगने लगा था। जीने में धीरे-धीरे चढते हुए कदमो की आहट। मेरे सारे दोस्त जानते है कि शाम को मुझे मेरे कमरे मे नही पाया जा सकता।···आपकी तबीयत खराब हो, हिलने-डुलने, उठने-बैठने को जी न करता हो, और आप एकदम अकेले हों, इससे ज्यादा खराब स्थिति की कल्पना, इस वक्त मैं नही कर सकता। इस वक्त भी मैं अकेला हूँ, खैरियत यह कि शरीर और मन मे इतनी शक्ति है कि अपनी नोट-बुक भर सकूँ। वरना···

क्या आप बतलाएँगे कि जिन्दगी की परिभाषा क्या है ? सुबह-शाम इधर-उधर घूमना, दोस्तों से गप करना, इधर-उधर की लम्बी-चौडी बातें—साहित्य और साहित्यकार, राजनीति और मिनिस्टर, मिस भाटिया और श्रीकृष्ण सिंह···मैं पूछता हूँ इतनी बातों की जरूरत क्या है, और उनसे आता-जाता भी क्या है ? इधर दो दिन से, जैसा कि मेरे दोस्त सुरेश का खयाल है, फ्लू के बाद के असर के रूप में, सुनने की ताकत कुछ कम हो गई है। इतने भर से लगता है जैसे मैं और मेरी दुनिया एकदम बदल गए है। वैसे सोचता हूँ, क्या थोडे-से बहरेपन से मेरे व्यक्तित्व और मेरी जिन्दगी की सिफत बदल सकती है ? जरूर बदल सकती है, इधर दो दिनो से लग रहा है कि मेरी न सिर्फ सुनने की बल्कि समझने की शक्ति भी कम पड़ गई है। उस दिन जब डॉ०, चदोला सुरेश और निर्मला एक-दूसरे से बातें कर रहे थे तो मुझे लग रहा था कि वे लोग, गोया मुझे सुनने से वचित रखने के लिए ही, जान-बूझकर धीरे-धीरे बाते कर रहे है। कुल मिलाकर जिन्दगी है भी क्या—कुछ सुनना, कुछ बोलना···सचमुच ही जिन्दगी का कोई

और ज्यादा गहरा अर्थ और मकसद दिखाई नही पड़ता। इधर कभी-कभी मुझे लगा है कि मैं कही वहुत दूर, वड़ी ऊँचाई पर पहुँच गया हूँ और वहाँ से नीचे झाँकते हुए तरह-तरह की वातचीत में लगे हुए इन्सानों को सुनने-समझने की कोशिश कर रहा हूँ : कर रहा हूँ पर ठीक से सुन-समझ नही पा रहा हूँ और मुझे जान पड़ रहा है कि नीचे धरती पर कमरे-कमरे, वाजारों और कहवाघरो मे लगातार, वे-विराम चलने वाले मनुष्य नाम के प्राणी की वातचीत एकदम ही वे-मानी है। वह मुझ तक नही पहुँच पाती—शायद इसलिए कि इधर मेरी श्रवण-शक्ति कुछ कम हो गई है, वह निश्चय ही, देवताओ और ईश्वर तक नही पहुँच पाती होगी। देवता और ईश्वर, हो सकता है उनका कहीं अस्तित्व हो ! दुनिया-जहान मे, जैसा कि नेपोलियन कहा करता था, असम्भव कुछ भी नही है। असम्भव शब्द को फ्रेंच डिक्शनरी से हटा देना चाहिए। यह भी नामुमकिन नही है कि तुम, रणधीर निगम, हमेशा-हमेशा के लिए कमोवेश वहरे हो जाओ।

फ्लू—मैं कहता हूँ कि हर इन्सान को, कम-से-कम हर लेखक को, इस अजीवोगरीव वीमारी का अनुभव होना चाहिए। कम सुनने लगने पर दुनिया में कितनी शान्ति फैली महसूस होती है ! वीसवी सदी के शोर-शरावे से वचे रहने का, उसके उत्पीड़क दवाव से मुक्त रहने का, सवसे अच्छा तरीका है फ्लू को निमन्त्रित कर लेना, और···या कानो मे हमेशा के लिए थोड़ी-थोड़ी रूई फँसा लेना।

उस दिन की शाम, और निर्मला का एकाएक आ जाना, तो यह कदमों की आवाज़ निर्मला की थी ! 'अरे तुम, तुम यहाँ कैसे आ पहुँची, और क्यों ? वैठो, अपनी माँ से कहकर आई हो न ?'

'नही !'

'नही ? लेकिन क्यों ? यह ठीक नही ?'

'ठीक क्यों नही ? मुझे सन्देह हुआ कि आपकी तवीयत खराव है इसलिए चली आई।'

'हूँ, तवीयत तो सचमुच खराव है; वरना मैं तुम्हे पढाने जरूर जाता।'

'कोई वात नही, आप हफ्ते मे एक बार भी पढ़ा दे तो वहुत है।' फिर कुछ रुककर, 'कोई दवा ली है ?'

'हूँ, बायोकेमिक दवाएँ ली है. लेकिन कोई फायदा नहीं जान पड़ता।'

'आज आपने खाया क्या?' कुछ रुककर उसने पूछा।

'यही चाय-वाय ली है, आज सोचा कि खाना न खाया जाये।'

'और दूध? दूध तो लिया होगा न आपने?'

मैंने उसे यह वताना उचित नही समझा कि मैं दूव वहुत कम लेता हूँ। सुवह मे चाय, उसके साथ उवला हुआ अडा और दो टोस्ट। दिन मे सिर्फ आधा सेर दूध लेता हूँ जो ज्यादातर चाय-कॉफी के साथ ले लिया जाता है। अलमारी मे कुछ दूध रखा था, उस दिन चाय भी एक ही वार ली थी, सुवह दस वजे। निर्मला ने कहा, 'मैं दूव गर्म कर देती हूँ, पी लीजिएगा। रात को कुछ खाना चाहे तो वता दें, मैं घर से वनाकर पहुँचवा दूँगी।'

'नही, आज मै कुछ खाना नही चाहता; दूव ले लूँगा।'

उस दिन मुझे लगा कि जिन्दगी मे वहुत छोटी-छोटी वाते काफी महत्त्वपूर्ण होती है। जैसे यह निर्मला का मेरा हालचाल लेने आ जाना, और मुझे स्टोव पर दूव गर्म करके देना। और जव मैं दूध ले रहा था तो उसका कुर्सी पर वैठे हुए मन्द भाव से वार-वार हँसना। निर्मला अव पहले की अपेक्षा ज्यादा हँसती है, शायद पहले से ज्यादा खुश भी रहती है। एक दिन मैंने इन वातों का सकेत करके और यह कहकर कि अव वह कुछ वदल गई है, उस वदलने का कारण पूछा तो उसने कहा: 'पहले मुझे अपने पढने की वडी चिन्ता थी, अव निश्चिन्त हो गयी हूँ।' 'हूँ, ज्यादा निश्चिन्तता अच्छी नही, तुम्हे वढिया नम्वरो से पास होना है, समझी?' 'हूँ', कहकर वह हँसी थी और फिर लमहे-भर को मुँह उठाकर मेरी ओर देख लिया था।

मेरे दूध ले चुकने पर उसने वड़े कोमल ढग से कुछ नीचे कुछ-कुछ मेरी ओर देखते हुए धीरे-से हँसकर कहा था: 'अव मैं जाऊँ?'

'हूँ, वहुत धन्यवाद!' जीने तक वह धीरे-धीरे गई थी, फिर तेजी से उतरती जान पडी थी। रात को विरजू के हाथो, जिसका नाम उसने मुझसे सुन लिया था, उसने मेरे लिए गिलास-भर दूध भिजवाया था।

अगले दिन लगभग साढे नौ वजे सुरेश डॉ० चन्दोला को लेकर कमरे में आया था। इत्तफाक से उसी समय निर्मला भी आ पहुँची। वह उन दोनों को वहाँ देखकर वहुत सकपकाई; मैंने दोनों को निर्मला का परिचय दिया।

उस वक्त मेरी हालत अच्छी नही थी; काफी तेज बुखार था और मैं पूरी तरह से सचेत नही था। सुरेश और चन्दोला के आने पर मैं कुछ देर के लिए कोशिश करके जागरूक और सचेष्ट वन गया था। निर्मला के आने के कुछ मिनट वाद ही मैं कमजोरी महसूस करते हुए निढाल-सा आँखे मूँदकर वेखवर हो गया था। उस हालत मे मैंने महसूस किया कि डॉ० चन्दोला, सुरेश और निर्मला से वहुत धीरे-धीरे वाते कर रहे हैं; वे शायद उन्हे मेरे वारे में जरूरी हिदायतें दे रहे थे। दोनो के चले जाने के वाद निर्मला ने मुझसे पूछकर चाय वनाई थी। मैंने एक विस्कुट खाया था, सिर्फ एक विस्कुट और चाय के साथ मेटानिस की एक टेवलेट और एक एन्टी-वायोटिक केप-सूल लिया था। खडे होते हुए निर्मला ने कहा था : 'अब मैं जाती हूँ, साँझ को फिर आऊँगी। दो घटे वाद आपके लिए दूध भिजवाऊँगी; उसे लेकर उसके दस मिनट वाद आप यह दवाएँ फिर ले ले।'

वीमारी और तीमारदारी···मेरी सलाह है कि या तो आप वीमार पड़ें नहीं, और पड़े तो इसका प्रवन्ध कर ले कि कोई आपकी ठीक-ठीक देखभाल करे। अकेला होना और वह भी वीमारी की हालत मे वहुत ही खराब अनु-भव है। मैं चाहता था कि निर्मला वही वनी रहे, मेरे पास, लेकिन यह मुम-किन नही था। अजय को खवर भेजूँ और डॉ० मदन को? लेकिन किसके हाथ···यों सुरेश से दो-एक दोस्तो को पता चल ही गया होगा।

कल शाम कही से खवर पाकर अजय आ पहुँचा। वहुत ज्यादा खुशी हुई क्यों, मैं नही जानता। रोग की दशा में शायद खास तरह के व्यक्तियों का पास आना, होना अच्छा लगता है—ऐसे लोगों का जो सचमुच आपके भले-वुरे, जीने-मरने की परवाह करते है। जी नही, औपचारिक दोस्ती की प्रदर्शन-परक शिष्टता वीमार आदमी के लिए वेकार होती है। अजय ने शब्दों में लम्वी-चौड़ी सहानुभूति प्रकट नही की। टेम्परेचर लिया और कहा, 'अव तो तुम्हें बुखार विल्कुल नही है।' 'नही, आज सुवह से ही बुखार नहीं रहा है। और अव तो मुझे अन्न खाने की इजाजत भी मिल गई है।' कुछ रुककर कहा, 'जानते हो, फ्लू वड़ी मजेदार वीमारी है, उसमे तरह-तरह के अनुभव होते हैं। परसों मुझे लग रहा था कि मुझे कानों से ठीक सुनाई नही दे रहा है, अभी भी स्थिति नार्मल नही है।' 'दो-एक दिन वाद किसी कान

के विशेषज्ञ से जाँच करा लेना, उपेक्षा करना ठीक नही होगा।' 'हूँ, लेकिन ज्यादा या कुछ कम सुनने का अनुभव दिलचस्प बात है, एक दिलचस्प अनुभव। जानते हो, परसो मुझे दुनिया और खुद जिन्दगी दूसरी ही किस्म की दिखाई दे रही थी। और कल मैं सोच रहा था : इतनी जल्दी, सिर्फ तैंतीस-चौंतीस की उम्र में, क्या जरूरी था कि मै बहरे होने का अनुभव भी जानूँ और भोगूं ? वर्मा और वाजपेयी का क्या हाल है ? लग रहा है जैसे सदियों से कॉफी हाउस नही गया हूँ।' अजय ने बताया कि इधर वर्माजी चीनी-आक्रमण को लेकर एक नाटक लिख रहे हैं। 'देशभक्त लेखकों से इतनी उम्मीद तो करनी ही चाहिए, मैं तो तुम्हे भी राय दूंगा कि इस विषय पर कोई जोशीली चीज लिख डालो।' अजय ने यह भी बतलाया कि इधर जगह-जगह छोटे कस्बो और गांवो में कवियों की टोलियां घूमने लगी है। इसके लिए उन्हे सरकार से काफी पैसा भी मिल रहा है। सरकार को इस बात की बडी चिन्ता है कि लोगों मे जोश बना रहे और वे सुरक्षा-कोष को खूब चन्दा देते हुए मौजूदा शासको पर अपना भरोसा जाहिर करे। 'खूब' मैंने प्रसन्न स्वर में कहा, 'मेरी तो राय है कि इस समय तुम भी कोई देश-भक्ति वाली रचना तैयार करो। आखिर हम लोगों को भी तो अधिकार है कि मौक़े से फायदा उठाएँ।'

निर्मला का प्रवेश : अजय को देखकर वह झिझक और संकोच से लमहे-भर को ज़ीने के पास ठिठक रही। मैंने उसे प्रोत्साहन के स्वर मे बुलाया और अजय से परिचय कराया। उसने आशंकित असमंजस और परेशानी के भाव से अजय को प्रणाम किया। अजय के और मेरे सम्मिलित प्रोत्साहन और अनुरोध से वह कुर्सी पर बैठी। उसके हाथ में मूग की उबाली हुई दाल से भरा हुआ पत्थर का प्याला था जिसे उसने मेज़ पर रख दिया था। इस तरह की दाल बनाकर लाने का आर्डर वह सुबह ले गयी थी। मैंने उससे कहा था : मुझे नमकीन चीज खाने की तेज इच्छा हो रही है। उसके उस तरह की दाल तैयार करके देने के सुझाव पर मैंने खुशी से स्वीकृति दे दी थी। अजय को सम्बोधित कर कहा, 'अजय जी, निर्मला पाक-शास्त्र मे बड़ी निपुण है, ज़रा चखकर देखो क्या चीज़ बनाकर लाई है।...निर्मला, स्टोव पर चाय का पानी भी चढ़ा दो।'

अजय और निर्मला—मैंने कभी नही सोचा था कि ये दोनों शुद्ध-पवित्र विभूतियाँ किसी दिन आमने-सामने उपस्थित हो जाएँगी। क्या सचमुच ही दोनों में कही समानता है, जैसा कि मुझे एक बार आभास हुआ था ? अजय के बदले कोई दूसरा होता तो, निर्मला के लिए ही सही, मैं ज़रूर कुछ उद्विग्न महसूस करता। लेकिन अजय की मौजूदगी से मुझे किसी तरह की परेशानी न थी। 'अजय जी मेरे बहुत करीबी मित्र हैं, और बहुत ही अच्छे आदमी हैं,' मैंने निर्मला को आश्वस्त करने के लिए कहा। उसने स्टोव पर पानी रख दिया और अब उसके पास नीची नज़र किये खडी थी। मैंने उसे कुर्सी पर बैठने को कहा, वह बैठ गयी। अजय को लक्ष्य कर मैंने कहा : 'निर्मला अंग्रेज़ी मे एम० ए० कर रही है और इसमे कुछ ऐसी विशेषताएँ है जिनकी ठीक-ठीक दाद तुम ही दे सकते हो। जब यह हंसती है तो···तो लगता है कही से मासूम स्वच्छता के फूल झड़ने लगे हो।' निर्मला जैसे शर्म से गड़ी जा रही थी; प्रयत्न से बंद किए हुए होंठ और क़रीब-क़रीब बंद, झुकी हुई आँखें; वह जैसे कोशिश करके होठों पर उभरने को तत्पर मुस्कराहट को रोक रही थी। 'देखिए अब निर्मला हँसने वाली है, सावधान !' मेरे कहते-कहते निर्मला सचमुच बड़े मृदुल, खामोश भाव से हँस पडी।

अजय के चाय ली, और थोड़ी-सी दाल भी। दाल चखते हुए मैंने कहा : इसमें नमक कम जान पड़ता है। 'नमक कम है ?' निर्मला ने ऐसे पूछा जैसे मेरी शिकायत एकदम ही अप्रत्याशित हो। अजय ने कहा, 'नमक एकदम ठीक है, शायद तुम्हारा स्वाद बिगडा हुआ है ; फ़्लू से अक्सर ऐसा हो जाता है। तो फ़्लू के बार में अजय को भी काफ़ी बातें मालूम हैं, ताज्जुब है कि मैं ही इस विषय में इतना अनजान रहा हूँ। यह खुशकिस्मती है कि मेरा इस दिलचस्प बीमारी से वास्ता पड़ा।

पाँच-सात मिनट बाद अजय उठकर चलने लगा। मैं पलंग ही पर उठकर बैठ गया, निर्मला भी उठकर खडी हो गई। अजय ने मुझे इशारे से पलंग से न उठने को कहा; जाने को उद्यत निर्मला को मैंने भी इशारे से रोक लिया।

पास की कुर्सी पर बैठने का इशारा करके मैने उससे कहा : 'तुम मेरे दोस्त को देखकर उलझन में पड़ गई थीं, है न ? लेकिन, जैसा कि मैंने तुमसे कहा, अजय बहुत ही अच्छा और सहृदय व्यक्ति है, तुम्हारी ही

तरह स्वच्छ और स्नेहशील। उसने तुम्हें ज़रूर पसंद किया होगा। उससे किसी तरह के सकोच की ज़रूरत नही है।'

निर्मला, हमेशा की तरह, नीची निगाह किए वैठी थी, थोडी-थोड़ी मुस्कराती हुई। वोली, 'आपके दोस्त है इसलिए आपको अच्छे लगते होगे; मुझे उनसे क्या लेना-देना है! मुझे तो···।'

'तुम्हे तो क्या ?'

'मुझे तो आप ही अच्छे लगते हैं, आप मुझे पढाना स्वीकार न करते तो पता नही परीक्षा मे क्या होता।' 'तो मैं इसीलिए अच्छा लगता हूँ ?—यानी मैं नही, मेरा पढ़ाना अच्छा लगता है। लेकिन मैं तुमसे कहना चाहता हूँ कि अजय मुझसे कही ज्यादा अच्छा आदमी है।'

निर्मला पूर्ववत् मुस्कराती रही। निगाह कुछ ऊँची करके वोली, 'इसका मतलव यह है कि आप वहुत अच्छे नही हैं; यह गलत है।'

इस लडकी का मुझ पर कितना विश्वास है, मैंने सोचा। काश कि मैं इतने विश्वास के लायक होता। कहा, 'तुम वड़ी वुद्धू लड़की हो, तुम्हे आदमी की पहचान विलकुल नही है। वुद्धू, और सीधी-सादी। मैं कहता हूँ अजय मुझसे कही ज्यादा अच्छा आदमी है, विलकुल तुम्हारी तरह, साफ और शुद्ध, सुना ?'

'जी सुन लिया।'

'क्या सुन लिया; तुम सचमुच वुद्धू हो, कुछ भी नही समझती।' मेरी आवाज़ कुछ ऊँची हो गई थी, जैसे मैं किसी पर गुस्सा कर रहा होऊँ। मुझे सच ही इस वात का खेद था कि निर्मला मुझे, मेरे चरित्र को, गलत समझती है—या नही समझती। मेरे वारे मे कोई गलतफहमी मे रहे, और ग़लत-फ़हमी मे रहने वाला व्यक्ति निर्मला की तरह भोलाभाला हो, यह मुझे विल्कुल पसन्द नही है। मेरे स्वर की तेजी से निर्मला कुछ चौंकी, एकाएक उसके होंठो से मुस्कराहट गायव हो गई, और वह उदास और नीरस दीख पड़ने लगी। लमहे-भर वैसी स्थिति मे रहकर मुस्कराने की कोशिश करती हुई वोली, 'अव मैं जाऊँ ?'

मुझे यह देखकर वार-वार ताज्जुव होता है कि मुस्कराहट या हँसी की ओर उन्मुख होते ही एक मामूली, डल चेहरा भी एकाएक आकर्षक दीखने

लगता है। निर्मला के साथ तो हमेशा यही होता है; वह मुस्कराती हुई, और उससे भी ज्यादा हलके भाव से हँसती हुई अच्छी लगती है। उसने जाने की बात कही थी, पर वह कुर्सी पर से उठी नही थी। लड़कियों की यह भी एक अजीब विशेषता है कि वे बात करते हुए, सहज, आदत-सी बनी हुई कृत्रिमता से हँस या मुस्करा लेती है। निर्मला का मूड बदलने के लिए कहा, 'नाराज हो गयी ? पगली ! ऐसी भी जाने की क्या जल्दी है !'

'आप मेरे सामन अपनी बुराई न किया करे, मुझे अच्छा नही लगता।'

'बुराई···भला मैं अपनी बुगई क्यो करूँगा। लेकिन अब तुम बडी हो गई हो, तुम्हें लोगो के चरित्र की परख होनी चाहिए। तुम यहाँ मेरे पास अकेले मे चली आती हो, तुम्हे डर नही लगता ?'

'नही', उसने संक्षेप मे उत्तर दिया। 'आपसे डर लगता, तो मैं आपसे पढ़ती ही नहीं।'

'अच्छा, अब जाओ।' मैंने जैसे एक बहस को ख़त्म करते हुए कहा। वह कुछ देर ठिठकी, फिर उठकर जीने के दरवाज़े की ओर चलने लगी। वह दरवाज़े तक पहुँची ही थी कि मैंने उसे इशारे से वापस बुलाया। वह लौटकर पलंग के सिरहाने के पास वाली उस कुर्सी के पास, जिस पर वह बैठी थी, खडी हो गयी। मैं भी खडा हो गया था। आगे बढकर उसके गाल को हलके-से छूते हुए कहा, 'कल सुबह आओगी, आओगी न ? आओ तो कोई हलकी नमकीन चीज जरूर बनाकर ले आना। और देखो, इस बात का थोडा-सा खतरा है कि कल सुबह तुम यहाँ आओ तो मैं तुम्हे चूम लूं।'

मैं सोच रहा था कि मेरी अन्तिम बात की निर्मला पर कुछ प्रतिक्रिया होगी; मैं उस प्रतिक्रिया को देखना भी चाहता था। लेकिन, मेरी प्रत्याशाओ के विरुद्ध, उसमे कोई हरकत या गति नही हुई, वह कुछ बोली भी नही; पूर्ववत् कुछ नीचे नजर रखती हुई गुमसुम और नि.स्पन्द खडी रही। मेरे अन्तर्मन ने इसका यह अर्थ लगाया कि वह अभी ही, उसी क्षण, उसी जगह मुझे चूम लेने का निमत्रण या अनुमति दे रही थी।

× × ×

निर्मला के जाने के बाद मैं बहुत देर तक उन कुछ क्षणों मे घटी हुई स्थिति के बारे मे सोचता रहा। मैं अब तक न जाने कितनी लड़कियों,

महिलाओं या औरतो को चूम और छू चुका हूँ। उनमे से कुछ निसवतन कम सुलभ थी, कुछ ज्यादा। निमला की गिनती इन दोनो ही श्रेणियो मे नही हो सकती थी। एक तरह से कहा जा सकता है कि उसे उतनी निकटता मे पाने के लिए मैंने कोई लम्वी-चौडी कोशिश नही की थी; सच यह है कि वैसी कोशिश की वात मेरे मन मे आई ही नही थी। दूसरे अर्थ मे, वहुत धीरे-धीरे उसके और मेरे वीच निकटता का सम्वन्ध वन गया था, लेकिन यह सम्वन्ध अभी तक मेरे सचेत मन मे परिभापित नही हुआ था। यह अचरज की वात है कि मैंने कभी सीरियसली अपने और सुधा जीजी के सम्वन्ध को विश्लेपण के जरिए पकडने की कोशिश नही की। अव सोचने पर लगता है कि निर्मला को पढाते और समझाते वक्त कभी-कभी ऐसा लगता था जैसे वह मेरी चचेरी-ममेरी या किसी और रिश्ते की वहन हो—कुछ-कुछ वैसा ही जैसा काफी वरस पहले, शुरू के दिनो मे, सर्वजीत को पढाते वक्त लगता था। यो इस समय मुझे इसकी कोई साफ़ चेतना नही है कि उन दिनो सर्वजीत को लेकर मेरा ठीक मनोभाव क्या था। सच यह है कि लड़कियो के प्रति दूसरे किस्म की भावना होने का ठीक अनुभव मुझे तव हुआ जव मेरी सरोज से गहरी जान-पहचान हुई। निर्मला के प्रति इस दूसरी किस्म की भावना की शुरुआत इधर फ़्लू के दौरान मे ही हुई है। लेकिन यह भावना एक निराली किस्म की रही है—वह जैसे उस निकटता की भावना का ही, जो इससे पहले थी, कुछ अधिक घना और अंतरग रूप हो। निर्मला का आना-जाना, उसकी सहज, विज्ञापन की गन्ध से मुक्त, अपने मे ही सिकुड़ी सिमटी-सी सेवा-भावना, मन मे जिस प्रतिक्रिया को उकेरती-उकसाती रही है उसे ठीक से न वासना का नाम दिया जा सकता है, न प्रेम का; उसे एक अव्याख्येय अपनेपन की सज्ञा ही दी जा सकती है। यह अपनापन मेरे अतर्मन मे स्वतन्त्र रूप से जनमा हो ऐसा नही, वह जैसे निर्मला की उस तरह की वृत्ति या भावना का आवश्यक प्रतिरूप या प्रतिफलन है—जैसे चुम्वक की खीचने की शक्ति करीव के लोहे मे सक्रमित हो जाती है। और मैं सोच रहा था : क्या यह सक्रमित मनोवृत्ति मेरे जैसे चचल मन की भूमि मे कमजोर अकुर से वढ़कर एक सतर्कता से सीचे हुए पौधे और वृक्ष का रूप ले सकती है ?

× × ×

कानों को लेकर इधर कई दिनों से मुझे बड़ी चिन्ता थी। यह इत्तफाक ही है कि मनुष्य के कानों की रचना खास तरह की होती है और वे शब्द करने वाली वस्तुओं के विशिष्ट कम्पनों से सहचरित ध्वनियो को सुनते है। ध्वनियों की यह दुनिया हमे कितना यथार्थ जान पडती है, और कितनी महत्त्वपूर्ण ! जैसे विशिष्ट रचना वाले हमारे कान यथार्थ की लम्बाई-चौडाई और विस्तार का सही माप हों। और इन कानों की शक्ति में थोड़ी भी कमी-बेशी हो जाना बड़ी गम्भीर बात जान पड़ती है।···आँखो पर पहले ही से चश्मा लगाता रहा हूँ, लेकिन वह रिवाज मे दाखिल हो गया है। चश्मा लगाना कोई सीरियस कमी या गैर-खूबसूरती का द्योतक नही माना जाता। लेकिन कान के पास 'हियरिंग एड' लटकाना घोर आपत्ति की बात है। मिस्टर निगम और हियरिंग एड—सोचकर ही मितली-सी आती है। लेकिन अगर सचमुच ही सुनने की शक्ति कम हो जाए—आपने गौर किया, मैं बहरा शब्द के प्रयोग को बचाना चाहता हूँ।—तो ? जान पडता है चौंतीस-पैंतीस की अवस्था आते-आते ही कमोवेश बुढ़ापा छाने लगा है।··· लेकिन कल की अपेक्षा आज कुछ ज्यादा ठीक सुनाई दे रहा है।

× × ×

आज सुबह मुझे अपने कान पहले जैसे नार्मल जान पड़ रहे थे, फिर भी मैं डॉक्टर माथुर के क्लीनिक में पहुँच गया। डॉ० माथुर नाक-कान-गले के विशेषज्ञ हैं। उन्होने कई ऐसी बाते बतलाईं, जिन्हे सुनने को मैं तैयार नही था। कहा कि कानों मे गड़बड होने का फ्लू से कोई लगाव नही था, कि मेरे कान मे पहले से ही कुछ खराबी थी—इयर-ड्रम मे बारीक-सा छेद और उसकी वजह से, आंशिक बहरापन। इसका कोई इलाज नहीं है, ऑपरेशन किया जा सकता है, लेकिन उसका परिणाम सदिग्ध रहता है। यो कोई खास हर्ज नही है, क्योकि सुनने के लिए एक कान काफी है। एक कान; एक आँख से भी तो देखा जा सकता है ! खैरियत है कि दोष कान में है, आँख मे नही, वरना—मै अपने इस नये दोष की जानकारी से सचमुच अन्दर-ही-अन्दर हीनता-ग्रथि का शिकार होने लगा हूँ। डॉक्टर ने दवा दी थी; उससे यही लाभ होगा कि मेरी सुनने की शक्ति अपनी पहले की हालत मे पहुँच जायेगी।

आज शाम मैं निर्मला को पढाने गया था। मैंने, बातों ही बातों में, उससे अपने कान के नुक्स का जिक्र किया। उसने उसे मजाक समझा; कहा, 'आप मुझे बहकाने की कोशिश कर रहे हैं; आपके कान मे खराबी है तो मेरी बात सुन कैसे रहे है, मैं कोई जोर से तो बोल नही रही हूँ?' निर्मला मुझसे दाहिनी दिशा में बैठी थी; मैंने यह स्पष्टीकरण करना जरूरी नही समझा कि मेरा दाहिना कान नार्मल है कि कमी बाएँ कान मे है। मेरी निश्चित राय है कि हमे दूसरो के सामने अपने बारे मे ज्यादा प्रेषणशील नही होना चाहिए। मैंने निर्मला से अपने कान के बारे मे उतनी बात भी न जाने किस प्रेरणा से कह दी। उसके आपत्ति करने पर मैं खामोश हो गया। कुछ देर बाद उससे धीमे स्वर मे पूछा, 'तुमने उस दिन मुझे अपने से उस तरह आजादी क्यो लेने दी? एक लडकी को किसी का इतना विश्वास नहीं करना चाहिये। खास तौर से जब वह विचारो मे उतनी आगे न हो।'

'यह आप कैसे जानते है? मैं इतनी रूढिवादी नही हूँ; फिर मुझे आप पर भरोसा है।' कहकर उसने मुस्कराती आँखो से ऊपर देखा।

'कितना भरोसा है? और यह तुमने कैसे जान लिया कि मैं भरोसे के लायक हूँ?'

वह फिर मुस्करायी। बोली, 'आप इतने दिनों से मुझे पढा रहे हैं; इतने दिनो मे एक-दूसरे के बारे मे बहुत-कुछ जान लिया जाता है।' मैं चुप हो गया। आप मुझसे यह आशा नही रख सकते कि मैं उस व्यक्ति से, जो मेरे बारे मे अच्छी राय रखता है, अपने खिलाफ जिरह करूँ। मेरे और निर्मला के बीच न उस दिन, न कभी उससे पहले कोई ऐसी बात हुई जिससे यह ध्वनि निकलती हो कि मैं उससे किसी तरह का स्थायी सम्बन्ध बनाना चाहता हूँ। यह जरूर है कि निर्मला की माँ कभी-कभी इस चीज की वाछनीयता पर जोर देती रही है कि अब मेरा विवाह हो जाना चाहिए। ऐसे मौको पर निर्मला कभी-कभी ऐसे ढग से सकुचती-सिकुड़ती हुई बरतती रही है जैसे उसका इस चर्चा से कोई लगाव हो। कभी-कभी, इस तरह की बातचीत शुरू हो जाने पर, वह उठकर भी चली जाती है—चाय या किसी और चीज को लाने के बहाने से। यह कहना गलत होगा कि मैंने कभी

शारदा देवी को वैसी बातें करने या करते रहने के लिए प्रोत्साहन दिया है; इसके विपरीत मैं भरसक अपनी उदासीनता के प्रदर्शन द्वारा उक्त चर्चाओं के जल्दी से खत्म किये जाने का प्रयत्न करता रहा हूँ। वैसे भी मुझे कभी निर्मला के व्यक्तित्व मे उस तरह की दिलचस्पी नही हुई, इस दृष्टि से स्थिति बहुत-कुछ विपरीत हो रही है। बीच-बीच में कभी-कभी मुझे इसका आभास हुआ है कि निर्मला मुझमें कुछ ज्यादा दिलचस्पी ले रही है, लेकिन मैंने अपनी ओर से कभी उसकी उस मनोवृत्ति को बढ़ावा नही दिया। आप कह सकते हैं कि मैंने कभी उसे खुलकर निरुत्साहित भी नही किया, लेकिन मैं इसे अपराध में शुमार नही करूँगा। अपने बारे मे किसी महिला द्वारा प्रदर्शित उत्सुकता या दिलचस्पी को देखते हुए उसमें थोड़ा-बहुत सुख-सन्तोष महसूस करना, मेरी नजर में अपराध नही है। और इतने को किसी तरह का प्रोत्साहन या स्वीकृति मान लेना किसी के भी लिए सही या उचित नहीं है।

लेकिन उस दिन···उस दिन न जाने क्यों निर्मला मुझे एकाएक बड़ी भली और चाहने योग्य जान पड़ी थी। पिछले कुछ दिनों और घंटों में प्रदर्शित उसकी सहज और तत्पर सेवा-भावना ने मुझे कही बहुत भीतर में छुआ था। बाद में, जब उसने मुझे बिना किसी तरह के प्रदर्शन या प्रतिरोध के, मानो सिर्फ मेरे सुख और सन्तोष के लिए, अपने को चूम लेने दिया, तो मेरे मन में खास तरह की कृतज्ञता की भावना हुई। लेकिन क्या इस सबको उसने जो अर्थ दिया है, या देना चाह रही है, वह कभी, किन्ही भी क्षणों में, मेरा अभिप्रेत रहा है? अगर इसे गलतफहमी कहा जाये तो उसका कारण सिर्फ यही हो सकता है कि हमारे समाज का वातावरण एक खास तरह का है, और निर्मला और उसकी माँ उस वातावरण के प्रभाव में रहती और चलती रही है।

× × ×

आज मैं बहुत दिनों बाद अजय के 'मानविकी संस्थान' में गया था। संस्थान की शान-शौकत और सफाई का वातावरण बहुत अच्छा लगता है। कभी कभी मन मे रश्क भी होता है कि अजय को काम करने के लिए ऐसा बढ़िया वातावरण मिला हुआ है। इसमे सन्देह नही कि मेरा मित्र यह सब

और इससे ज्यादा भी पाने का हकदार है। फिर भी मैं कभी-कभी उस पर अपनी ईर्ष्या जाहिर कर देता हूँ। एक वार जव मैंने सीरियसली अजय से कहा, 'मेरे मित्र, तुम सचमुच भाग्यशाली हो', तो वह विनोद के भाव से हँसकर वोला, 'जिन खोजा तिन पाइयाँ; जिस दिन तुम सचमुच इस तरह के भाग्यशाली वनना चाहोगे, तो तुम्हे वैसा होने से कोई रोक नही सकेगा।' अजय का खयाल है कि कुछ लोग—जैसे कि मैं और डॉ० द्विवेदी की लडकी दीपिका—इस वात पर तुले रहते है कि वे भाग्यशाली न वन पायें; उन्हें हर तरह के दुर्भाग्य से भीतरी लगाव होता है। यह नही कि अजय जिन्दगी के अन्तर्निहित अवसाद और पीड़ा से अपरिचित है, लेकिन वह इसे पसन्द नही करता कि उनका नाटकीय प्रदर्शन किया जाये। उनके वारे में किसी को ज्यादा उत्साह से वातें करते हुए सुनना उसे गवारा नही है। इस तरह के प्रदर्शन और वातचीत मे उसे छिछलेपन की गंध आती है, वह उन्हें वौद्धिक विश्लेषण की चीज भी नही मानता। एक वार उसने कहा : हिटलर द्वारा फ्रान्स के आक्रान्त होने पर वहाँ के संवेदनशील वुद्धिजीवियों ने सचमुच तीखे द्वन्द्व और गहरी पीड़ा का अनुभव किया होगा। उनका वह अनुभव इतिहास की एक विशिष्ट परिस्थिति का परिणाम था; वह निराला और अद्वितीय भी था। हमारे अधिकांश लेखकों और वुद्धिजीवियो को उस पीडा का साक्षात् अनुभव नही है; इसीलिए उनके मुँह मे अस्तित्ववाद का वड़े से वड़ा सत्य महज नारा वनकर रह जाता है।

मैं आज अजय से निर्मला के वारे मे वात करना चाहता था। उसने निर्मला को देखा था; मैं यह जानने को उत्सुक था कि उसने उस लड़की के वारे मे क्या धारणा वनाई है। क्यों उत्सुक था, कहना कठिन है। मैं उसे इस स्थिति की भी जानकारी देना चाहता था कि निर्मला, किन स्थितियो मे किस तरह गलतफहमी का शिकार हो गई है। अजय को मैं इतना करीब से जानता हूँ और उस पर इतना भरोसा करता हूँ कि मैं उसके सामने अपनी निजी-से-निजी वाते और समस्याएँ कह और रख सकता हूँ।

जब मैंने अजय के सामने निर्मला का जिक्र छेडा तो उसने कहा, 'वह लड़की एकदम निश्छल और भोली है, तुम्हे उसके साथ सावधानी से बरतना

चाहिए।'

धीरे-धीरे मैंने उसके सामने निर्मला के व्यवहार और प्रत्याशाओं के बारे मे अपनी धारणा को खोलकर रखा। सुनकर वह कुछ देर चुप रहा, फिर बोला, 'तुम्हारा क्या खयाल है—क्या वह तुम्हारे व्यवहार को सचमुच के आश्वासन के रूप मे लेती रही है ?'

लगता तो यही है; 'तरद्दुद की बात यह है कि वह मेरे कुछ भी कहने-सुनने से यह मानने को तैयार नही होती कि मेरा व्यवहार कोई दूसरा अर्थ भी रख सकता है।'

'दूसरा अर्थ उस समाज और वातावरण में, जिसमें निर्मला पली है, प्रचलित नही है,' कहकर वह चुप हो रहा। कुछ देर बाद बोला, 'मुझे इसका एक ही इलाज दिखाई देता है, यह कि तुम उससे हो सके तो जुबानी नहीं तो लिखकर माफी माँग लो।'

मैं खामोश हो रहा, जैसे उसका सुझाया हुआ हल मुझे पसन्द न हो।

'कही ऐसा तो नहीं कि निर्मला की माँ को तुम्हारे व्यवहार का कुछ आभास हो गया हो ?'

'शायद नही, इतनी बुद्धि निर्मला में है कि वह ऐसी बात का सकेत माँ को न दे।'

'तब ज्यादा कठिनाई की बात नही। मुमकिन है यह भी तुम्हारा भ्रम हो कि निर्मला तुमसे कैसी प्रत्याशा रखने लगी है।'

कुछ देर हम दोनों के बीच खामोशी रही। यह खामोशी कुछ अस्वाभाविक थी क्योकि, मित्रों के बीच, उतनी देर चुप रहना मेरे स्वभाव के विरुद्ध है। कुछ देर बाद अजय ने पूछा, 'क्या सोच रहे हो ?'

'सोच रहा हूँ कि आज पहली बार तुमने ऐसी सलाह दी है, जिसकी मैं आशा नही कर सकता था। मैंने सोचा था कि तुम्हें निर्मला का मुझसे ज्यादा खयाल होगा। वह लड़की इतनी संवेदनशील है कि···'

'मैं समझता हूँ। लेकिन उसे तुमसे पढते हुए काफ़ी दिन हो गए है, इस बीच मे तुम्हारे स्वभाव और विचारो से वह ज़रूर ही थोड़ा-बहुत परिचित हो चुकी होगी। फिर दूसरा रास्ता भी क्या है ?'

'दूसरा रास्ता···मेरा खयाल था कि तुम मुझे यह राय दोगे कि मैं

निर्मला से शादी कर लूं। लेकिन मैं देखता हूं कि इस बारे में मेरे मित्रों को अब मेरी कतई चिन्ता नही रह गई है।'

अजय हँस पडा। बोला, 'तो तुम सचमुच वैसी सलाह की आशा करते थे! मैं वैसी राय देता, अगर मैं तुम्हारे स्वभाव और जीवन-दर्शन से कुछ कम परिचित होता। निर्मला सरल स्वभाव और स्नेहशील है; वह किसी भी ऐसे व्यक्ति को, जो इन गुणो की कद्र कर सकता है, सुखी बना सकती है—लेकिन तुम जैसे बेपनाह आदमी को नही।' कुछ देर रुककर कहा, 'शादी के लिए तो तुम्हारे लिए एक ही लडकी उपयुक्त जान पडती है—दीपिका; मुझे सचमुच इस बात का खेद है कि तुम दिल्ली मे उससे नही मिल सके। इधर वह इतनी बदल गई है कि···'

अजय को इधर दीपिका के विवाह की बहुत चिन्ता रही है। माना कि अब त्वचा-रोपण के महँगे ऑपरेशन के बाद, उसके चेहरे पर पहले जैसे चेचक के दाग दिखाई नही देते, और यह भी कि उसके नक्श बुरे नही हैं। द्विवेदीजी के पास काफी सम्पत्ति है। फिर भी···अजय इसलिए भी इस पर ज़ोर दे रहा है कि यह एक अन्तर्जातीय विवाह होगा। उसका कहना है कि अब दीपिका उतनी बहस भी नही करती—पहले से कही ज्यादा मृदुल बन गई है। लेकिन दीपिका की मन-बुद्धि की गठन में, जैसा कि अजय खुद कहा करता है, अस्तित्ववादी अवसाद और निराशावाद के कीटाणु ज्यादा मात्रा मे पाए जाते है। अस्तित्ववाद की चर्चा करना अच्छा लगता है, लेकिन साहित्यिक गोष्ठियो मे और दोस्तों के बीच। अगर घर मे बीवी भी वही बातें करने लगे तो जिन्दगी दूभर हो सकती है।

निर्मला ··न जाने उसके हँसने मे क्या विशेषता है। निश्छल सरलता और मासूमियत का अन्दाज। एकाध बरस पहले अजय इन चीजों की बहुत चर्चा किया करता था। वह समझता है जैसे वही इन गुणों की कद्र कर सकता है—जैसे उसी को अधिकार है कि वह इन चीजो की मौजूदगी मे रस ले। इसका.यह मतलब हरगिज नही कि अजय को मुझसे ईर्ष्या है। एक तरह से उसका अनुमान ठीक ही है, मैं निर्मला-जैसी लड़की के साथ सुखी नही रह सकता। कम-से-कम इतना निश्चित है कि मै उसे सुखी नही बना सकता, मुझे सचमुच ही कोई अधिकार नही है कि उसकी भावनाओं

से उस तरह की खिलवाड करूँ। सबसे बड़ा सवाल है : इसके साथ बैठकर कितनी देर तक और क्या बातें की जा सकती हैं ? इस दृष्टि से दीपिका और उसमे कोई तुलना नही है। फिर भी...

× × ×

श्रीमान् रणधीर निगम ! क्या मैं जान सकता हूँ कि तुमने आज तक किस महायुद्ध में धीरता और बहादुरी का परिचय दिया है ? और तुम शक्की भी कितने हो ! तुम सोचते हो कि तुम्हें अजय ने जो परामर्श दिया है, उसके पीछे कोई निहित स्वार्थ है। अजय का द्विवेदी-परिवार से पुराना सम्बन्ध और लगाव है; द्विवेदीजी की कोशिश से ही वह मानविकी संस्थान मे जगह पा सका था। वह दीपिका को अपनी सगी बहन के बराबर मानता है। यह सब ठीक है, लेकिन इसके, आवश्यक रूप मे, वह मानी नही जो तुम लेना चाहते हो। अजय तुम्हें भी कुछ कम नही मानता।

प्रस्ताव बुरा नही है, न बेतुका ही है। यह भी कोई अवांछनीय बात नहीं कि द्विवेदीजी काफी समृद्ध हैं, और दीपिका उनकी इकलौती सन्तान। जिन्दगी मे पैसे का महत्त्व है, इससे कौन इन्कार कर सकता है ? मुझे कभी-कभी शक होता है कि अमिता जो डॉ० रंजन की ओर खिची उसका एक कारण यह भी था कि वे एक विश्वविद्यालय मे प्रोफेसर हैं। अमिता बुद्धि-सम्पन्न ही नही, समझदार भी है। मेरा खयाल है कि लड़कियाँ और महिलाएँ उस दृष्टि से अक्सर समझदार होती है। सरोज भी समझदार थी; उसने ठीक ही किया कि तुमसे शादी नही की।

क्या कहा, तुम लेखक हो, और स्वाभिमानी...अव्वल तो तुम लेखक हो नही और हो भी तो तुम उतने रोमांटिक और अव्यावहारिक नही हो कि रुपये-पैसे के प्रति उदासीन होओ।...तुम्हें कमलेश बनने की ख्वाहिश हो, उसकी तरह ख्यात या कुख्यात होने की, तो भी उसकी तरह खस्ताहाल जीना और बीमार पड़कर मरना पसन्द नहीं करोगे। तुम जानते हो कि तुम हिसाब लगाकर चल सकते हो; हर समझदार आदमी को हिसाब लगाते हुए चलना चाहिए। अस्थाना कितना चतुर है, और कितना सफल ! यदि तुम डॉ० सत्यपाल को पटा सको, तो दिल्ली में कही जम जाना मुश्किल नही होगा। दीपिका नौकरी कर ही रही है, सुना है

द्विवेदीजी ने दिल्ली में जमीन खरीद ली है और वहां मकान बनाने की फिक्र मे हैं। अजय ने कुछ भी सोचकर वैसी सलाह दी हो, उसे मान लेने से तुम्हे लाभ ही लाभ है।

और दूसरी ओर क्या है?···एक अर्धरोमाटिक, अनगढ, अपरिपक्व व्यक्तित्व, और हँसने-मुस्कराने का एक खास अन्दाज। उतने-भर को कहाँ तक, सीरियसली, जिन्दगी का सम्बल बनाया जा सकता है? फिर उसकी तरफ से वकालत करने वाला कोई अजय-जैसी योग्यता वाला व्यक्ति भी नही है···।

लेकिन, सचमुच ही, अजय से मैं उस तरह एक की उपेक्षा और दूसरी की सिफ़ारिश की उम्मीद नही करता था। मैं समझता था कि स्थिति को देखते हुए वह ज्यादा निष्पक्षता और सहृदयता से अपनी राय जाहिर करेगा। लेकिन, शायद, हर-एक व्यक्ति की तरह-तरह की सीमाएँ होती हैं। दीपिका अजय की कई कमजोरियो में से एक है—शायद। मैं अजय की कद्र करता हूँ इसके यह मानी नही है कि अपने इस निहायत निजी मामले में, आँख मूँदकर उसकी बात मान लूँ।···क्या मुझे दिल्ली जाना चाहिए—यानी कि दीप से मिलने? दिल्ली का आकर्षण सचमुच ही बड़ा जबर्दस्त है—दीपिका से कही ज्यादा। और मुझे इस वक्त लग रहा है कि निर्मला की उस मासूम, सफेद हँसी की कशिश, एक गहरे और रहस्यमय अर्थ मे, दिल्ली की सारी नवीनता और आधुनिकता से ज्यादा शक्तिशाली है।

इस वक्त···आगे के बारे मे, ज़ाहिर ही, निश्चित रूप में न आप कुछ कह सकते हैं, न मैं। फिर भी आप यह ज़रूर बता सकते है कि दीपिका और निर्मला के बीच खुद आपकी पसन्द क्या है।

●●●